उत्तराध्ययन और श्रीमद्भगवद्गीता प्रवचनमाला-2

संपन्न बनो

आचार्य महाश्रमण

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन

संपन्न बनो

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : अप्रेल २०१२
इक्कीसवां संस्करण : अगस्त २०१३

मूल्य : ७०/- (सत्तर रूपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

प्रवचन करना मेरा प्रायः प्रतिदिन का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों में मैंने विभिन्न धर्मग्रन्थों को आधार बनाकर प्रवचन किए। परमपूज्य गुरुदेव आचार्य महाप्रज्ञ के इंगितानुसार मैंने श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर शताधिक व्याख्यान दिए। साध्वी सुमतिप्रभा ने उस व्याख्यानमाला के कुछ वक्तव्यों को निबन्धों का आकार दिया। पिछले कुछ वर्षों से वह मेरे वक्तव्यों के संपादन और निबन्धीकरण कार्य में गहरी निष्ठा के साथ संलग्न है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता में विश्वास रखने वाले और उत्तराध्ययन में आस्था रखने वाले तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी बन सकेगी। शुभाशंसा।

केलवा — **आचार्य महाश्रमण**

१८ जुलाई २०११

अनुक्रम

१. स्थितप्रज्ञ बनो	१
२. मोह पर प्रहार करो	४
३. अन्तर्ज्ञान-संपन्न बनो	९
४. श्रद्धा-संपन्न बनो	१४
५. आत्मा में रहो	१८
६. नित्य-संन्यासी बनो	२२
७. निर्लिप्त रहो	२६
८. अनुप्रेक्षा करो	३१
९. अपने मित्र बनो	३५
१०. परमगति को प्राप्त करो	३८
११. स्थिरबुद्धि-संपन्न बनो	४३
१२. अक्षय सुख पाओ	४७
१३. सदा-मुक्त बनो	५२
१४. भ्रम-मुक्त बनो	५६
१५. मन को साधो	५९
१६. साधना-संपन्न बनो	६३
१७. योग-संपन्न बनो	६७
१८. स्वरूप-संपन्न बनो	७१
१९. भक्ति-संपन्न बनो	७३
२०. जरा और मृत्यु को जीतो	७८
२१. अध्यात्म-संपन्न बनो	८२

२२. शुभ भाव-संपन्न बनो ८६
२३. कलात्मक जीवन जीओ ९१
२४. भक्तिपूर्वक दान दो ९५
२५. आराध्य की आराधना करो ९८
२६. मैत्री-संपन्न बनो १०१
२७. अध्यात्मविद्या-संपन्न बनो १०४
२८. समबुद्धि-संपन्न बनो १०७
२९. शांति-संपन्न बनो १११
३०. सर्वप्रिय बनो ११४
३१. संतता-संपन्न बनो ११९
३२. अनपेक्ष बनो १२२
३३. निष्कांक्ष-संपन्न बनो १२५
३४. समता-संपन्न बनो १२८
३५. आलोक-संपन्न बनो १३१
३६. विवेक-संपन्न बनो १३४
३७. बंधन-मुक्त बनो १३७
३८. तमोगुण से सावधान रहो १४१
३९. प्रमादी मत बनो १४५

१

स्थितप्रज्ञ बनो

आर्हत् वाङ्मय में **ठियप्पा** शब्द का अनेक जगह प्रयोग हुआ है। यह प्राकृत भाषा का शब्द है। संस्कृत और हिन्दी भाषा में इसे स्थितात्मा कहा जा सकता है। स्थितात्मा वह मुनि होता है, जो बाह्य चीजों से अनासक्त, इन्द्रिय-विषयों में अनासक्त और अपने आप में स्थित रहता है।

इन्द्रियां अपना काम करती हैं, पर जब इन्द्रियों के साथ मन जुड़ जाता है और वह आसक्ति में चला जाता है तो वह मन प्रज्ञा का हरण करने वाला होता है, समता की प्रज्ञा को हर लेता है। गीता में सुन्दर उदाहरण दिया गया — नदी या समुद्र में नौका चल रही है। उस समय विपरीत हवा या तूफान आ जाता है तो नौका के लिए कठिनाई पैदा हो जाती है। इसी प्रकार आसक्तियुक्त मन जब इन्द्रियों के साथ जुड़ जाता है तो कठिनाई पैदा हो जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं — हे अर्जुन! जिस आदमी ने इन्द्रियों का निग्रह कर लिया, इन्द्रियों को संयमित कर लिया, इन्द्रियों को विषयों से हटा लिया अथवा राग-द्वेष न करने की स्थिति में आ गया, उस व्यक्ति की प्रज्ञा स्थित हो जाती है। उस व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा जा सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं —

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव!।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम्।।२/५४।।

हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ की परिभाषा क्या है? जो स्थितप्रज्ञ होता है, वह बोलता कैसे है? बैठता कैसे है? चलता कैसे है? उसका जीवन-व्यवहार कैसा होता है? इसी प्रकार के प्रश्न दसवेआलियं में साधु के संदर्भ में किए गए हैं —

कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए?
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई?।।४/७।।

मुनि कैसे चले? कैसे खड़ा रहे? कैसे बैठे? कैसे सोए? कैसे खाए और कैसे बोले? जिससे पापकर्म का बंध न हो।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्नों का जवाब दिया –

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ! मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।२/५५।।

जो साधक कामनाओं को समग्रतया त्याग देता है यानी एक, दो नहीं, सभी मनोगत कामों का जो परित्याग कर देता है और अपने आप में अपने से संतुष्ट रहने वाला, मस्त रहने वाला होता है, उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

यद्यपि आदमी के भीतर कामवृत्ति रहती है, किन्तु कई बार यह कामना वार्द्धक्य आने के बाद भी बनी रह जाती है। आदमी बूढ़ा हो जाता है, किन्तु कामना बूढ़ी नहीं होती है। कामना संसार में तो होती ही है, देवों में भी होती है, परन्तु जो वीतराग होता है, वह कामना का अंत कर देता है। उत्तराध्ययन की भाषा में वीतराग शब्द है और गीता की भाषा में स्थितप्रज्ञ शब्द है। यहां शब्द में अन्तर है, पर दोनों का भाव मुझे एक प्रतीत होता है। गीता का स्थितप्रज्ञ और उत्तराध्ययन का वीतराग एक भूमिका पर खड़े हैं। जिसका राग चला गया, कामना चली गई, वह वीतराग और जिसकी कामनाएं या काम चला गया, वह स्थितप्रज्ञ होता है। कामनाओं को छोड़ने का मतलब है संतोष को धारण कर लेना। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया है –

सन्तोषः त्रिषु कर्त्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु नैव च कर्त्तव्यः, अध्ययने जपदानयोः।।

तीन स्थानों में संतोष करना चाहिए–अपनी पत्नी, भोजन और धन। १. अपनी पत्नी में संतोष रखना चाहिए। दूसरी सभी महिलाओं को पुत्री, बहन या मां के समान समझना चाहिए। २. भोजन में संतोष करना चाहिए, ज्यादा नहीं खाना चाहिए। जो मिल गया, उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। ३. धन में संतोष धारण करना चाहिए। धन की अति आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। जितनी अपेक्षा है उतना धन मिल गया, फिर संतोष धारण कर लेना चाहिए। तीन स्थानों में संतोष नहीं करना चाहिए – अध्ययन, जप, दान।

१. ज्ञान प्राप्त करने में संतोष नहीं करना चाहिए। ज्ञान अनंत है। आदमी

के पास समय कम है। उसमें भी विघ्न बाधाएं आ जाती हैं, इसलिए जो सारभूत बातें हैं, सारभूत ज्ञान है, उसको ग्रहण कर लेना चाहिए, जैसे–हंस क्षीर-नीर मिश्रित में से दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है। इसी तरह समझदार आदमी को जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान की बातें हैं, उनको ग्रहण कर लेना चाहिए, शेष चीजों को छोड़ देना चाहिए।

२. भगवान् का नाम लेने में संतोष नहीं करना चाहिए। जितना ले सकें उतना नाम लेना चाहिए। शुद्ध भाव से जितना परमात्मा को याद करेंगे, कल्याण होगा। समय न मिले तो मन ही मन अजपाजप चलता रहे। खाते-पीते, सोते, उठते-बैठते भीतर में वह धुन चलती रहे, परमात्मा का नाम चलता रहे।

३. दान देने में संतोष नहीं करना चाहिए। साधु को दान देने से बड़ा फल मिलता है। गार्हस्थ्य में भी दान देने की परम्परा चलती है। जिन लोगों में ममत्व होता है, संग्रह की चेतना, आसक्ति की चेतना होती है, उन्हें दान देने में कठिनाई महसूस होती है। आदमी धन को अहंकार का कारण न बनने दे। वह त्याग की चेतना, विसर्जन की चेतना का विकास करे। दान के सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्ष हैं। शुद्ध साधु को दान देना आध्यात्मिक दान माना गया है। सांसारिक संदर्भ में गरीब और जरूरतमन्द व्यक्ति को दान देना लौकिक दान माना गया है। गरीबों को दान देने से व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठा मिलती है, श्रेय मिलता है और लोगों में सम्मान होता है। दान किसी भी रूप में दिया जाए, वह कभी निष्फल नहीं होता।

इस प्रकार इन्द्रिय-विषय, पदार्थ और धन में संतोष करना चाहिए और अपने आप में संतुष्ट रहना चाहिए। हमें गीता और उत्तराध्ययन में स्थितप्रज्ञ और वीतराग शब्द के माध्यम से काम को छोड़ने का, कामनाओं को त्यागने का संदेश मिलता है। कामनाओं का अंत करने वाला स्थितप्रज्ञ और वीतराग होता है।

२

मोह पर प्रहार करो

आदमी के जीवन में अनेक करणीय कार्य होते हैं। उन करणीय कार्यों को करना आदमी का कर्त्तव्य होता है। हमारी दुनिया में कर्त्तव्य का बड़ा महत्त्व होता है। जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होता है, वह व्यक्ति योग्य होता है और गुण-सम्पन्न भी होता है। जो व्यक्ति कर्त्तव्य से विमुख रहता है, जागरूक नहीं रहता है, वह व्यक्ति अयोग्य होता है। बड़े व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य होता है और छोटे व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य होता है। अपने कर्त्तव्य को निभाना खास बात है। आदमी छोटे से छोटा काम भी करे तो वह छोटा नहीं होता है। काम करने से तो आदमी बड़ा होता है। जिसके लिए जो करणीय है, वह कार्य व्यक्ति को करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्त्तव्य के संदर्भ में श्रीकृष्ण कहते हैं –

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।३/२२।।

अर्जुन! तीन लोकों में मेरा कुछ भी जिम्मा नहीं है। ऐसी कोई भी चीज दुनिया में नहीं है, जो मेरे लिए पाने योग्य हो और मैंने नहीं पाई हो। जो कुछ पाना था, वह मैंने पा लिया है, मैं कृतकृत्य हूं। इसके बावजूद भी मैं कर्म में प्रवृत्त रहता हूं, क्योंकि मेरा यह मानना है कि अगर मैं कर्म नहीं करूंगा तो जो लोग मेरा अनुकरण करने वाले हैं, वे भी कर्म करना छोड़ देंगे, अकर्म बन जाएंगे, आलसी बन जाएंगे। दूसरों को प्रेरणा मिलती रहे, इसलिए मैं भी कर्म करता हूं। मेरे द्वारा कर्म करने से अनेक लोगों को लाभ भी होता है। अनेकों को पथ मिल जाता है, इसलिए मैं कर्मशील रहता हूं।

कार्य करने में, सेवा करने में कभी आलसी नहीं होना चाहिए। एक आदमी की कर्मशीलता से दूसरों को भी प्रेरणा मिलती है। किसानों के लिए देवराज ने घोषणा की कि बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होगी। कोई किसान खेती करने का श्रम न करे, परन्तु किसानों ने खेतों में जाना व श्रम करना बन्द नहीं किया। एक दिन पुनः आवाज आई कि वर्षा नहीं होगी, फिर क्यों खेतों में जाकर श्रम करते हो? किसान बोले – देवराज! आप वर्षा करो या न करो, यह तो आपकी मर्जी है, पर हम खेत में जाना नहीं छोड़ेंगे। अगर हमने खेत में जाना बंद कर दिया तो हमारी आने वाली पीढ़ी खेती करना ही भूल जाएगी। वे खेतों को भूल न जाएं, इसलिए हम खेत में जाते हैं और श्रम करते हैं। कहा जाता है कि किसानों की कर्मशीलता और कर्त्तव्य-परायणता को देखकर देवराज प्रसन्न हो गए और उन्होंने उसी समय वर्षा कर दी। आदमी का काम है पुरुषार्थ करना, कर्म करना।

आदमी कर्मशील बना रहे, कभी निष्क्रिय न बने। कर्म करते-करते कुछ कष्ट आ जाए तो उसको भी झेलने का प्रयास करे। जो आदमी अपना कर्त्तव्य निभाता है, उसे मन में संतोष की अनुभूति होती है। आदमी यह सोचे कि देह तो अस्थायी है, नश्वर है, परन्तु देह में विराजमान चैतन्य अविनश्वर है, इसलिए इस देह के द्वारा धर्म की इतनी साधना करूं, जिससे मेरी अविनाशी आत्मा का कल्याण हो जाए।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा कि कर्म करते समय इस बात का ध्यान रखो कि आसक्ति और मोह का भाव न रहे। जहां आसक्ति, मोह, विकृति आ जाती है, वहां आदमी का कर्म भी विकृत हो जाता है। जहां आसक्ति, मोह कम रहता है, निःस्वार्थ सेवाभावना होती है, वहां आदमी का कर्म पवित्र बना रहता है। आसक्ति को दूर करने के लिए जैन वाङ्मय में अनित्य अनुप्रेक्षा का निर्देश दिया गया है। वहां बताया गया है कि यह संसार अनित्य है। इस अनित्य संसार में सब अनित्य हैं, इसलिए आदमी को मोह में, हिंसा में, आसक्ति में नहीं जाना चाहिए।

हमारी मोह-चेतना को विघटित करने में अनित्य अनुप्रेक्षा सहायक बनती है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है। प्रेक्षाध्यान पद्धति का भी वह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसका अर्थ है गहराई से चिन्तन, मनन और अर्थ विमर्श करना। विभिन्न विषयों पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करने से उन विषयों में विकास किया जा सकता है, संवेग और निर्वेद को पुष्ट किया जा

सकता है। जैन परम्परा में बारह भावनाएं अथवा अनुप्रेक्षाएं प्रसिद्ध हैं। उपाध्याय विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' नामक ग्रन्थ में सोलह अनुप्रेक्षाओं का व्याख्यान किया है। उनमें प्रथम अनित्य अनुप्रेक्षा है। द्रव्य शाश्वत है और पर्याय अशाश्वत है, अनित्य है। जहां संयोग है, वहां वियोग है। जो सम्बन्ध है, वह विसम्बन्ध में बदलता है। आदमी के सबसे निकटवर्ती वस्तु है शरीर। वह भी एक दिन छूटने वाला है। इस स्थिति में बाह्य पदार्थों के संयोग में मूर्च्छित और आसक्त होना दुःख को खुला निमंत्रण है। आदमी यह सोचे कि सब कुछ अनित्य है, स्थायी कुछ भी नहीं है। ये सांसारिक सुख अस्थायी हैं, यह शरीर भी अस्थायी है, माता-पिता, भाई-बहन आदि संबंध भी सदा रहने वाले नहीं हैं। इस अनित्यता के अनुचिंतन से मोह-चेतना को कमजोर होने का मौका मिलता है। हमारे साधु-साध्वियां अनित्यता का बोध कराने वाले अनेक भजन-गीत गाते हैं। इस प्रकार के गीतों को गाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि आदमी की मोह- चेतना पर प्रहार हो।

कहा जाता है कि महाभारतकाल में अभिमन्यु का देहावसान हो गया। पुत्र के देहावसान से अर्जुन के मन पर काफी असर हुआ। मानो उसे मोह ने प्रभावित कर दिया। अर्जुन युद्ध छोड़ने का निश्चय करने लगा। श्रीकृष्ण ने सोचा – मैंने तो जैसे-तैसे उपदेश देकर अर्जुन को युद्ध करने के लिए तैयार किया, किन्तु अभिमन्यु के जाने से यह तो वापिस युद्ध न करने की बात करने लग गया। श्रीकृष्ण उपायज्ञ थे। उन्होंने अर्जुन से कहा – अर्जुन! तुम्हारा बेटा स्वर्ग में है। मैं तुम्हें बेटे से मिला दूंगा, किन्तु तुम युद्ध से विमुख मत बनो।

श्रीकृष्ण उसे स्वर्ग में ले गए। स्वर्ग में अभिमन्यु आराम से बैठा था। अभिमन्यु को देखते ही अर्जुन जोर से बोला – अरे अभिमन्यु! आओ, इधर आओ। अभिमन्यु तो स्वर्ग के सुखों में तल्लीन था। उसने देवताओं से कहा – यह कौन पागल आदमी आ रहा है? इतना क्यों चिल्ला रहा है?

अर्जुन – अरे अभिमन्यु! तू मेरा बेटा है।

अभिमन्यु – कौनसा बेटा? किसका बेटा?

अर्जुन – तुम पिछले जन्म में मेरे बेटे थे।

अभिमन्यु – वह जन्म तो खत्म हो गया। यदि आप पिछले जन्म की बात करते हैं तो मैं आपको बताना चाहता हूं कि वह अमुक देवता सात जन्म पहले मेरा दादा होता था। अमुक देवता तीन जन्म पहले मेरा मामा होता था। अमुक देवता दो जन्म पहले मेरा चाचा था। इस प्रकार तो सब जीवों से मेरा

सम्बन्ध है। तब अर्जुन को बोध हुआ कि हमारे संबंध भी अनित्य हैं। कभी कोई दादा बनता है, कभी कोई नाना बनता है और वही आदमी कभी भाई बन जाता है और कभी पुत्र बन जाता है। अर्जुन को अनित्यता का बोध प्राप्त हो गया और मन में जो मोह-भाव था, उसको भी कम होने का मौका मिल गया।

अनित्यता का अनुचिंतन करने से आदमी की मोह-चेतना पर प्रहार होता है और अहंकार को कम होने का अवसर मिलता है। आदमी यह सोचे कि मेरा जीवन क्षणभंगुर है, फिर मैं अहंकार किस बात का करूं? परन्तु बहुधा देखा जाता है कि आदमी के पास पैसा होता है तो उसका अहंकार हो जाता है। ज्ञान होता है तो उसका अहंकार हो जाता है। यदि सत्ता हाथ में आ जाती है तो उसका घमण्ड हो जाता है, परन्तु अनित्यता का अनुचिन्तन करने से जो पैसा, ज्ञान, सत्ता आदि से होने वाला अहंकार है, उसको चूर-चूर होने का, खंडित होने का, टूटने का, छूटने का मौका मिलता है।

एक बार किसी राजा ने एक महल बनवाया। महल के उद्घाटन समारोह में अनेक दिग्गज लोगों को बुलाया गया। एक महात्मा को भी आशीर्वाद देने, प्रवचन देने के लिए बुलाया गया। राजमहल का उद्घाटन हुआ। लोगों से बातचीत के दौरान राजा ने महात्माजी से पूछा – महाराज! आपने मेरा महल अच्छी तरह देखा या नहीं? आप एक-एक चीज को ध्यान से देखें। महल में कोई कमी हो तो मुझे बताएं।

संत – राजन्! मैंने महल को देख लिया है। मुझे इसमें दो कमियां लग रही हैं।

राजा – महात्मन्! मैंने इसके निर्माण में बहुत पैसा लगाया है। कारीगरों ने इसे बढ़िया बनाने के लिए बड़ा श्रम किया है, अपना कीमती समय लगाया है। फिर भी आपकी नजर में जो दो कमियां हैं, उन्हें आप बताएं। मैं उसे दूर करने का प्रयास करूंगा।

संत – राजन्! पहली कमी यह है कि इस महल को बनाने वाला व्यक्ति एक दिन संसार से विदा हो जाएगा। दूसरी कमी यह है कि एक समय आएगा, जब यह महल भी ढ़ह जाएगा।

यह बात सुनते ही राजा को वैराग्य हो गया। उसने अपना राज्य युवराज को सौंपा और स्वयं साधना के पथ पर चल पड़ा।

बौद्धदर्शन ने अनित्यवाद को माना। जैनदर्शन ने पर्याय की अपेक्षा अनित्यता को स्वीकार किया, क्योंकि पर्याय परिवर्तन क्षण-क्षण हो

रहा है। हालांकि दुनिया में नित्य और अनित्य दोनों हैं। हमारी आत्मा नित्य है। नित्य इस रूप में है कि आत्मा वर्तमान में है, अनंत काल पहले भी थी और अनंत काल तक बनी रहेगी। शरीर अनित्य है, क्योंकि यह एक दिन नष्ट हो जाएगा। हमारी आत्मा नित्य और शरीर अनित्य है। इन दोनों का योग ही हमारा जीवन है।

हम अनित्यतता को समझने का प्रयास करें। साधना का सुन्दर सूत्र है – अनित्य अनुप्रेक्षा। दुनिया में अनेक लोग हैं, जो संसार की अनित्यता को समझ कर संसार से विरक्त हो जाते हैं, दीक्षित हो जाते हैं। यद्यपि दीक्षित होने के बाद भी कई बार मन चंचल हो जाता है। साधना का पथ स्वीकार करने के बाद भी कभी-कभी चित्त में विचलन पैदा हो जाता है। उस विचलन को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। रथनेमि पुरुषोत्तम व्यक्ति थे, परन्तु साध्वी राजीमती को निर्वस्त्र अवस्था में देखते ही उनका राग-भाव जाग गया। वे साध्वी राजीमती से प्रणय निवेदन करने लगे। उस समय राजीमती ने बड़ी दृढ़ता के साथ रथनेमि को समझाया, जिससे रथनेमि गिरते-गिरते संभल गए। एक साध्वी का ऐसा प्रेरणा स्वर सुना कि मन में आया हुआ विचलन का भाव दूर हो गया।

व्यक्ति स्वयं अपने चिंतन-अनुचिंतन के द्वारा, अनित्यता की अनुप्रेक्षा के द्वारा अपने मन के विचलन को दूर करने का प्रयास करे, अवश्य सफलता मिलेगी।

३

अन्तर्ज्ञान-संपन्न बनो

भारतीय वाङ्मय में ज्ञान के बारे में विशद विवेचन प्राप्त होता है। ज्ञान के दो प्रकार बताए गए हैं — लौकिक ज्ञान और लोकोत्तर ज्ञान। दोनों प्रकार के ज्ञान-प्राप्ति के लिए और ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रयास भी किया जाता रहा है। आज भी लौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत सारे विद्यार्थी विदेश जाते हैं। वहां रहते हैं, पढ़ते हैं और डिग्री प्राप्त करते हैं। बहुत सारे विद्यार्थी हिन्दुस्तान में भी अपनी जन्मभूमि, अपने निवास-स्थान को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में जाकर छात्रावास आदि में रहकर अध्ययन करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति के अनेक बाधक तत्त्व हो सकते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया —

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽलस्सएण य।।११/३।।

मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य — इन पांच स्थानों (हेतुओं) से शिक्षा प्राप्त नहीं होती।

एक विद्यार्थी, जो विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसके विद्याभ्यास के पथ में पांच बाधक तत्त्व हैं। पहला बाधक तत्त्व है — अहंकार। यदि विद्यार्थी में नम्रता का अभाव है और वह अभिमानग्रस्त है तो मानना चाहिए कि उसके पथ में एक बाधा, एक अवरोध आ गया है। अवरोध आदमी की गति को मंद करने वाला होता है। राजपथ पर वाहन दौड़ते हैं, पर जहां स्पीड-ब्रेकर आ जाता है, वहां गति थोड़ी मंद हो जाती है। विद्यार्थी के विद्याध्ययन में भी अहंकार एक स्पीड-ब्रेकर के समान है। अहंकार और प्रतिष्ठा की भावना से ग्रस्त रहने वाला व्यक्ति कुछ विशेष प्राप्त नहीं कर सकता। विद्यार्थी के भीतर विनय का भाव होना चाहिए। विद्या विनय से शोभित होती है, न कि अहंकार से।

अहंकारी के पास ज्ञान आ गया या ज्ञान आने के बाद अहंकार आ गया यानी दोनों स्थितियों में अहंकार एक प्रकार का कलंक है, धब्बा है।

शिक्षक और शिक्षार्थी में एक सुंदर संबंध होता है। यदि अध्यापक के मन में यह भावना हो कि मुझे तो वेतन चाहिए, पैसा चाहिए। विद्यार्थी तैयार हों या न हों मुझे क्या मतलब तो उस शिक्षक के शिक्षकत्व में कुछ कमी आ जाती है। शिक्षक का यह चिंतन होना चाहिए कि पैसा मेरी जरूरत है, परन्तु पैसे से बड़ी चीज मेरा पेशा है। यह एक प्रकार की सेवा है। सेवा पहले है, पैसा नंबर दो पर है। जो अध्यापक सेवा की भावना से ज्ञानदान देता है, वह मानो सरस्वती की सेवा करता है, ज्ञान की आराधना करता है और ज्ञानदान के माध्यम से विद्यार्थी-जगत् की सेवा करता है। अध्यापक विद्यार्थियों को पुस्तकीय ज्ञान के साथ-साथ अपने जीवन की पोथी से भी ज्ञान दें। उपनिषद् साहित्य में अध्यापक और विद्यार्थी के मधुर संबंध की व्याख्या करते हुए कहा गया है –

सह नाववतु सह भुनक्तु, सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु, मा विद्विषावहै।।

हम दोनों की रक्षा हो, हम दोनों का पालन हो, हम साथ में शक्ति का प्रयोग करें, पुरुषार्थ करें, हमारा ज्ञान तेजस्वी बने।

अध्यापक और विद्यार्थी के बीच मैत्री का संबंध रहे। कभी विद्वेष का भाव पैदा न हो। अध्यापक और शिक्षार्थी दोनों में ज्ञान के प्रति निष्ठा और लगन होनी चाहिए, तभी वे सरस्वती की अच्छी आराधना कर सकते हैं। विद्यार्थी को ज्ञान लेना हो तो नम्रता का प्रयोग करना होगा। राजा ने पंडितजी से कहा – पंडितजी! मुझे आपसे कुछ ज्ञान लेना है। आप विद्वान हैं। अतः शास्त्रों का कुछ ज्ञान मुझे भी दीजिए। पंडितजी आ गए और नीचे बैठ गए। वे कुछ ज्ञान की बातें बताने लगे, किन्तु राजा उन्हें पकड़ नहीं पाया। जब काफी देर बैठने के बाद भी राजा कुछ सीख नहीं पाया, तब पास में स्थित मंत्री से कहा – मंत्रीजी! सुनते-सुनते इतनी देर हो गई, किन्तु मुझे कुछ भी समझ नहीं आ रहा है। इसका क्या कारण है? मंत्री ने कहा – महाराज! आपका ज्ञानदाता नीचे बैठा है और आप ऊपर बैठे हैं। ऐसे नीचे से ऊपर ज्ञान कैसे आएगा? जैसे पानी ऊपर से नीचे आसानी से आ सकता है, वैसे ही ज्ञान भी ऊपर से नीचे

आसानी से आ सकता है, इसलिए पहले आप आसन बदलिए। पंडितजी को अपनी जगह पर बिठाइए और आप पंडितजी की जगह पर बैठिए, तभी आप ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे। ज्ञानी के मन में ज्ञानदाता के प्रति कृतज्ञता का भाव होना चाहिए। कृतज्ञता भी आदमी का एक गुण होता है। कृतघ्न व्यक्ति को निम्न कोटि का माना गया है। विद्यार्थी में शिक्षक के प्रति कृतज्ञता का भाव होना चाहिए।

शिक्षक और शिक्षार्थी का आत्मीय और तादात्म्यपूर्ण संबंध होना चाहिए। गुरु अपने विद्यार्थी का विकास करना अपना दायित्व समझे और विद्यार्थी के मन में अपने गुरु के प्रति समर्पण का भाव रहे।

दूसरा बाधक तत्त्व है — क्रोध। यदि विद्यार्थी को ज्यादा गुस्सा आता है, छोटी-छोटी बातों में वह तनावग्रस्त हो जाता है तो वह भी शिक्षा-प्राप्ति में बाधा है। गुस्सा करने वाला आदमी गहरा चिन्तन नहीं कर सकता। वह आवेशवश कभी गलत निर्णय भी ले लेता है। आवेश हमारा शत्रु है। भले ही वह थोड़ी देर के लिए आए, पर एक बार तो विस्फोट कर ही देता है। विद्यार्थियों को आवेश से बचना चाहिए। इसके लिए वे संकल्प करें और प्रयोग भी करें। प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान के प्रयोगों द्वारा भावात्मक संतुलन हो सकता है। ज्ञानात्मक विकास के साथ-साथ भावात्मक विकास भी होना चाहिए। जीवन में बुद्धि और भावशुद्धि दोनों का योग हो तो अच्छा विकास हो सकता है।

तीसरा बाधक तत्त्व है — प्रमाद। विद्यार्थी को अध्ययन में, स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। बीड़ी-सिगरेट पीना, गुटका इत्यादि खाना, शराब पीना आदि ऐसे अनेक प्रमाद हैं, जो विकास में बाधा पैदा कर सकते हैं। विद्यार्थी नशीले पदार्थों के सेवन, हास्य, विकथा आदि से सदा दूर रहें।

चौथा बाधक तत्त्व है — रोग। विद्यार्थी ध्यान रखें कि शरीर में कभी बीमारी न हो। हालांकि कई बार ध्यान रखने के बावजूद भी बीमारी हो जाती है, फिर भी जागरूकता हो तो बीमारियों से काफी हद तक बचा जा सकता है। जब विद्यार्थी स्वस्थ होंगे, तब विद्यार्जन में अधिक समय लगा पाएंगे और कुछ प्राप्त भी कर सकेंगे। वे मात्र शारीरिक रोग ही नहीं, भावनात्मक रोग से भी दूर रहने का प्रयास करें।

पांचवां बाधक तत्त्व है — आलस्य। विद्यार्थी का लक्ष्य रहना चाहिए कि मैं परिश्रम करूं, श्रम करके अपने ज्ञान को बढ़ाऊं। यदि परिश्रम नहीं होता है तो विद्यार्थी की सफलता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। भाग्य भी एक तत्त्व है, परन्तु आदमी को भाग्य के भरोसे नहीं बैठना चाहिए। विद्यार्थी आलस्य को त्यागकर पुरुषार्थ का, पराक्रम का, श्रम का संकल्प करे और सदाचार के पथ पर चले, तभी इन बाधाओं से बचा जा सकता है। पराक्रमी विद्यार्थी अपने जीवन में बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। वह अपना भी भला कर सकता है और समाज एवं देश के लिए भी उपयोगी बन सकता है।

लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक साधक भी अपने ढंग से शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान का गुणगान करते हुए कहा गया है —

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। ४/३८।।

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।

ज्ञान स्वयं पवित्र है और हमारी चेतना को भी पवित्र बनाने वाला तत्त्व है। यहां जिस ज्ञान की महिमा बताई गई है, वह किताबी ज्ञान या लौकिक ज्ञान नहीं है बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान, आत्मिक ज्ञान या अध्यात्मविद्या का ज्ञान है। यह ज्ञान भीतर से पैदा होता है। गीताकार ने कहा — योगसाधना में निपुण व्यक्ति समय का परिपाक होने पर अपने आप उस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। जहां गीता में ज्ञान का उल्लेख प्राप्त होता है, वहीं उत्तराध्ययन में भी ज्ञान के बारे में बताया गया है। वहां ज्ञान के पांच प्रकार बताए गए हैं — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। उत्तराध्ययन की भाषा में मनःपर्यवज्ञान को मनोज्ञान भी कहा गया है। जहां मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से निष्पन्न होने वाला है, वहां केवलज्ञान विशुद्ध आत्मा से निष्पन्न होने वाला ज्ञान है। केवलज्ञान तो पूर्णतया इन्द्रिय-निरपेक्ष, आत्म-सापेक्ष, अध्यात्म-सापेक्ष, वीतरागता-सापेक्ष ज्ञान है। गीता की इस बात को उत्तराध्ययन के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो वह उत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान है।

जैनदर्शन में जैसे ज्ञान शब्द का प्रयोग मिलता है, वैसे अज्ञान शब्द का भी प्रयोग किया गया है। अज्ञान को भी क्षयोपशमजन्य माना गया है। जहां

अज्ञान औदयिक भाव निष्पन्न होता है, वहां क्षयोपशम भाव निष्पन्न भी होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से भी अज्ञान होता है तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भी अज्ञान होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होनेवाला अज्ञान त्याज्य है, छोड़ने योग्य है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो अज्ञान होता है, वह पात्रभेद से होता है। वहां मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान की संज्ञा दी गई और सम्यक्दृष्टि के ज्ञान को ज्ञान की संज्ञा दी गई। जैन वाङ्मय के संदर्भ में अज्ञान भी शुद्धि से निष्पन्न होने वाला तत्त्व है, परन्तु एक दृष्टि से विचार करें तो अज्ञान की भूमिका यानी मिथ्यात्व की भूमिका त्याज्य है और सम्यक्त्व की भूमिका आदेय है, आदरणीय है। ज्यों ही सम्यक्त्व आता है, अज्ञान भी ज्ञान को प्राप्त हो जाता है। आदमी में जब तक अभाव रूप अज्ञान रहता है, तब तक उसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है। जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया, उसके लिए दुनिया का कोई भी तथ्य, कोई घटना अज्ञात नहीं होती, किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तब तक संभव नहीं है, जब तक अज्ञान और मोह दूर नहीं होता। तात्त्विक भाषानुसार बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है और तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। मोह क्षीण हुए बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए मोह का नष्ट होना जरूरी है।

अज्ञान भी मोह से संबंधित है। मोह के प्राबल्य से अज्ञान निष्पन्न होता है। दर्शन-मोह के समाप्त होने से मोह रूपी अज्ञान नहीं रहता। अज्ञान दूर हो जाए, मोह क्षीण हो जाए, राग-द्वेष नष्ट हो जाए तो सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो सकता है। सचमुच, ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है। आदमी साधना के द्वारा अन्तर्ज्ञान-संपन्न बनने का प्रयास करे।

श्रद्धा-संपन्न बनो

आर्हत् वाङ्मय के उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है –

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छंति सोग्गइं।।२८/३।।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप – इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं।

इसी बात को जैनशासन के महान् आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है – सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष के लिए सम्यक् दर्शन भी आवश्यक है, सम्यक् ज्ञान भी आवश्यक है और सम्यक् चारित्र भी आवश्यक है। तीनों का संयोग होता है, तब एक मोक्षमार्ग बन जाता है। दर्शन यानी श्रद्धा को भी मोक्षमार्ग का अंग माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में तो दर्शन को पहला स्थान दिया गया है यानी दर्शन सम्यक् है तो आदमी का अवबोध भी ज्ञान कहलाएगा और दर्शन मिथ्या है तो आदमी का अवबोध भी अज्ञान कहलाएगा। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है –

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।४/३९।।

जितेन्द्रिय, साधनापरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

गीता के **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं** और उत्तराध्ययन के **नादंसणिस्स नाणं** दोनों में बहुत साम्य है। गीताकार ने विधायक भाषा में कहा है और उत्तराध्ययनकार ने उसी बात को निषेधात्मक भाषा में कह दिया। ज्ञान प्राप्त

करने के लिए श्रद्धा होनी चाहिए। एक गुरु के पास विद्यार्थी अध्ययन करे तो उसकी गुरु के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धा होगी तो वह विनय से गुरु के पास पढ़ सकेगा। श्रद्धा के साथ विनय भी जुड़ा हुआ है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया – **सद्धा परम दुल्लहा** अर्थात् श्रद्धा परम दुर्लभ है। दुनिया में कुछ व्यक्तियों में श्रद्धा का वैशिष्ट्य देखने को मिल सकता है। श्रद्धा व्यक्तिपरक भी होती है और सिद्धान्तपरक भी होती है। कुछ लोगों में व्यक्तिपरक श्रद्धा होती है, जैसे–किसी की अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा होती है, किसी में देवी-देवता के प्रति गहरी श्रद्धा देखने को मिलती है। कोई हनुमान को अपना इष्ट मानता है, कोई रामदेवजी को, कोई पद्मावती को, कोई भगवान् महावीर को, कोई आचार्य भिक्षु को, कोई अन्य किसी को इष्ट मानता है अर्थात् सबकी अपने-अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा होती है। दूसरी है सिद्धान्तपरक श्रद्धा। व्यक्ति एक या अनेक सिद्धांतों को स्वीकार करता है और उनके प्रति वह समर्पित हो जाता है। जिसमें ईमानदारी के प्रति श्रद्धा होती है तो वह व्यक्ति ईमानदारी के प्रति समर्पित हो जाता है।

श्रद्धा में बल होता है, ताकत होती है। आदमी की अपनी आत्मा के प्रति श्रद्धा हो, अध्यात्म के प्रति आस्था हो, अपने आराध्य के प्रति निष्ठा हो, गुरु के प्रति श्रद्धा हो। श्रद्धा के सहारे आदमी कठिनाइयों को भी प्रसन्नता के साथ झेल सकता है, पार कर सकता है। अपेक्षा है कि आदमी श्रद्धा-सम्पन्न बने। ज्ञान और श्रद्धा के साथ कभी-कभी शंका भी हो जाती है। जो शंका जिज्ञासा के रूप में होती है, वह तो अच्छी होती है, किन्तु जो शंका या संशय सम्यक्त्व के दोष के रूप में होता है, वह ठीक नहीं होता। जीवन में ज्ञान और श्रद्धा नहीं है तो समझना चाहिए कि जीवन रिक्त है। एक बार जीसस किसी गांव से गुजर रहे थे। उनके दर्शनार्थ भक्तों की भीड़ उमड़ पड़ी। उस गांव में कुष्ट रोग से पीड़ित एक महिला थी। उसे यह पक्का विश्वास था कि जीसस का स्पर्श करने से मैं रोगमुक्त हो जाऊंगी, लेकिन उसे यह भय था कि भीड़ में जीसस के पास जाने की कोशिश करूंगी तो लोग धक्का मारकर भगा देंगे। उसने हिम्मत कर अपना मुंह ढका और भीड़ में घुसकर जीसस के वस्त्र का एक कोना छू लिया। जीसस बोले – मुझे इतनी श्रद्धा से किसने छुआ है? वह कुछ बोल नहीं पाई, किन्तु उसकी देह रोग-मुक्त हो गई। जीसस ने फिर वही प्रश्न किया, तब उसने कहा – प्रभो! मैं रोग-मुक्त हो गई। जीसस ने कहा – मैंने रोग-मुक्त नहीं किया है, अपितु तुम स्वयं अपनी श्रद्धा के कारण स्वस्थ बनी

हो। श्रद्धा मात्र वर्तमान जीवन को ही सुखी नहीं बनाती है, परलोक को भी सुधारती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है —

अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। ४/४०।।

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

जिस आदमी में सम्यक् ज्ञान नहीं है, सम्यक् श्रद्धा नहीं है और संशयशील स्थिति वाला है, उसका विनाश होता है। आदमी की डांवाडोल स्थिति अच्छी नहीं होती। केवल अध्यात्म के संदर्भ में ही नहीं, व्यवहार में भी डांवाडोल स्थिति प्रशस्त नहीं होती है। आदमी को एक निश्चय तक पहुंचना चाहिए। इस पार या उस पार, एक निर्णय करना चाहिए। अनिर्णय, अनिश्चय और डांवाडोल की स्थिति विकास के कार्य-निष्पादन में बाधक बनती है।

हम मैनेजमेन्ट के संदर्भ में विचार करें। जिस मैनेजमेन्ट में निर्णायकता होती है, वह अच्छा होता है। अनिश्चयता प्रबंधन में अच्छी नहीं होती है। प्रशासन और प्रबंधन के क्षेत्र में जो जिम्मेदार व्यक्ति हैं, वे सूझबूझ वाले होने चाहिए। आदमी को निर्णय लेने में ज्यादा विलम्ब नहीं करना चाहिए। वह प्रबंधक कुशल होता है, जो ज्यादा समय लगाए बिना अच्छा निर्णय देने में सक्षम होता है। अच्छा निर्णय देने की स्थिति तब होती है, जब व्यक्ति को अनुभव होता है और साथ में साहस होता है।

अध्यात्म की साधना के लिए आदमी को सम्यक्ज्ञानी, सम्यग्दर्शनी बनना होगा और संशय को छोड़कर निर्णायकता वाला बनना होगा, तभी वह साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकेगा।

गीताकार ने कहा — ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्परता होनी चाहिए। उत्सुकता होगी तो आदमी ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयास करेगा। जब उसमें तत्पर हो जायेगा, तल्लीन हो जाएगा तो उसे ज्ञान अच्छी तरह मिल सकेगा। इन्द्रिय-संयम वाला व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियों का संयम नहीं है तो उसका मन विकारक पदार्थों में लगा रहेगा। फिर वह ज्ञान-प्राप्ति में मन कैसे लगा पाएगा? इसलिए विद्यार्थी के लिए इन्द्रिय-संयम आवश्यक है। जो गुरुकुल आदि में पढ़ते हैं, उन्हें ब्रह्मचारी कहा जाता है। इन्द्रिय-संयम और

कुछ कठोरता का अभ्यास नहीं है तो कहीं-कहीं ज्ञान-प्राप्ति में बाधा आ सकती है। हालांकि आज तो सुविधाएं बढ़ी हैं। ज्ञान-प्राप्ति के संस्थानों में भी सुविधाएं बढ़ी हैं, परन्तु विद्यार्थी को कठोर जीवन जीने का अभ्यास होना चाहिए। जो ज्ञान सुख से मिलता है, वह दुःख आने पर विनष्ट भी हो सकता है, इसलिए विद्यार्थी को सुविधावादी नहीं बनना चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया है —

अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पस्य कालो बहवश्च विघ्नाः।
यत् सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।।

हम सर्वज्ञ की बात को एक बार छोड़ भी दें तो दुनिया में इतना ज्ञान है, इतने ग्रंथ हैं, उन सबको पढ़ पाना एक आदमी के लिए संभव नहीं लगता, क्योंकि समय कम है और विघ्न बहुत हैं, इसलिए आदमी जो सारभूत है, जो स्वयं के लिए उपयोगी है, उन ग्रन्थों का विशेष रूप से अध्ययन करे, जैसे—हंस क्षीरसागर में से केवल दूध को ही ग्रहण करता है।

व्यक्ति उस ज्ञान को प्राप्त करे, जो उसके जीवन को सफल व सार्थक बना सके और परम शांति को प्राप्त करा सके। प्रश्न उठता है कि कौनसा ज्ञान परम शांति का कारण है? गणित, भूगोल, वाणिज्य आदि सामान्य ज्ञान नहीं, बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान परम शांति का कारण है। यह भीतर की ग्रंथि का विमोचन करने वाला और भीतर के भावों को जगाने वाला होता है। उसे प्राप्त कर आदमी परम शांति को प्राप्त कर सकता है।

५

आत्मा में रहो

आराधना के दो माध्यम हैं — शब्द और रूप। इन दो माध्यमों से धार्मिक परम्परा में आराधना की जाती है। एक अवधारणा ने रूप के द्वारा आराधना को साधन बनाया तो दूसरी विचारधारा ने शब्द को माध्यम मान लिया। दोनों ही माध्यम हैं, रूप भी एक माध्यम है और शब्द भी एक माध्यम है। सीधी भाषा में यों कहा जा सकता है कि एक अमूर्तिपूजक विचारधारा है और दूसरी मूर्तिपूजक विचारधारा है। मूर्तिपूजा करने वाले भी बहुत लोग हैं तो अमूर्तिपूजा के सिद्धान्त को मानने वाले भी बहुत लोग हैं। अमूर्तिपूजक विचारधारा ने कहा कि मूर्ति तो पदार्थ है, भले वह धातु की हो, भले वह पत्थर की हो, उसको क्या नमन किया जाए? उसकी क्या आराधना की जाए? आराधना तो उस चेतना की करें, जिसमें गुण है। मूर्तिपूजा में विश्वास रखने वालों ने प्राण प्रतिष्ठा हो जाने के बाद मूर्ति को भी बड़ा महत्त्व दिया और मूर्ति की भी भगवान् की तरह आराधना करने लगे। दोनों विचारधाराएं धार्मिक जगत् में हैं, यह स्पष्ट है और आज भी उन विचारधाराओं के अनुयायी हैं। जैन समाज में श्वेताम्बर परम्परा में जहां मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मूर्तिपूजा में आस्था रखने वाला है, वहीं स्थानकवासी और तेरापंथ सम्प्रदाय मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करता है। इतना स्पष्ट है कि आराधना सबको मान्य है, किन्तु आराधना के माध्यम अलग-अलग हैं।

हमारी आराधना में कई बार स्वार्थ का भाव भी जुड़ा हुआ रहता है, जैसे—किसी के मन में कामना रहती है कि आराधना करने से मुझे अमुक उपलब्धि हो जाए अथवा जो संकट है, कष्ट है, वह दूर हो जाए। ज्ञातव्य यह है कि आराधना करने वाले जितने भी लोग हैं, उनके मन में विशुद्ध आत्म-कल्याण की भावना कितनी रहती है और अन्य भावना कितनी रहती है? कहीं शुद्ध स्वार्थ की भावना हो सकती है तो कहीं शुद्ध निःस्वार्थ की भावना भी हो

सकती है। यद्यपि परम पद को पाने की भावना भी स्वार्थ है, पर वह तो उत्कृष्ट कोटि का स्वार्थ है। इस परम पद की प्राप्ति के लिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया –

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय!।।४/४१।।

हे धनञ्जय! जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों का परमात्मा में अर्पण कर दिया है और जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे वश में किए हुए अंतःकरण वाले पुरुष को कर्म नहीं बांधते।

जिस व्यक्ति ने योग के द्वारा कर्मों का संन्यास कर लिया यानी जिसने कर्मयोग की साधना की है और कर्म करते हुए भी जो निष्काम हो गया, कामनारहित हो गया, ऐसे योगी को, ऐसे संन्यस्तकर्मा को कर्म बांध नहीं सकते। जिसने ज्ञान के द्वारा संशयों को छेद डाला है, जिसका ज्ञान निर्मल हो गया है और जो आत्मा में लीन हो गया है, जिसके लिए देह भी गौण हो गई और आत्मा मुख्य हो गई, ऐसे व्यक्ति को कर्म बांध नहीं सकते।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया – **पण्णा समिक्खए धम्मं २३/२५** प्रज्ञा के द्वारा धर्म की समीक्षा होती है। जब प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है तो सारे संशय समाप्त हो जाते हैं और तत्त्व उसके सामने स्पष्ट अवभाषित हो जाता है। जिसमें निर्मल प्रज्ञा का विकास होता है, जिसमें अनासक्ति का भाव और वीतरागता आ जाती है, उसके ईर्यापथिक बंध होता है। प्रश्न हो सकता है, ईर्यापथ बंध क्या होता है? यह वीतराग के होने वाला और दो समय की स्थिति वाला बंध है। प्रथम समय में कर्म का बंधन होता है और दूसरे समय में उसका फल भोग लिया जाता है। फिर वह कर्म नष्ट हो जाता है, इसलिए इसको बंध भी कहा जा सकता है और अबंध जैसा भी कहा जा सकता है। गीताकार ने कहा – कर्म करते हुए जो निष्काम है, अनासक्त है, आत्मलीन है, वीतराग है, उसको कर्म बांध नहीं सकते। उसके पाप कर्मों का तो बंध होगा ही नहीं, पुण्य कर्म का बंध भी बहुत अल्पकालिक होगा। जो आत्मवान् हो गया, आत्मा ही जिसका मुख्य लक्ष्य बन गया, ऐसे व्यक्ति के कर्मों का बंध नहीं होता।

आयारो में कहा गया है कि हमारा मुख एक आत्मा की ओर रहे। यद्यपि संसार में समय-समय पर व्यक्ति का मुख बदलता रहता है। किसी संस्कृत कवि ने कहा है –

बाल्ये मातृमुखो जातः, तारुण्ये तरुणीमुखः।
पुत्रपौत्रमुखो वार्ध्ये, मूर्खो नान्तर्मुखो भवेत्।।

बचपन में बच्चे का मुख मां की ओर रहता है। वह मां-मां करता रहता है। युवावस्था में जब विवाह हो जाता है, तब मुख पत्नी की ओर हो जाता है। उसके सामने पत्नी मुख्य बन जाती है। वृद्धावस्था आने के बाद ध्यान बेटे, पोते में रहता है। बचपन में मातृमुख, तारुण्य में तरुणीमुख और वृद्धावस्था में पुत्र-पौत्रमुख हो जाता है, किन्तु कवि कहता है कि वह मूर्ख है, अज्ञानी है, जिसने सबकी तरफ मुख कर दिया, पर आत्मा की ओर मुख नहीं किया। हमारा ध्यान ज्यादा आत्मा में रहे। साधु के लिए कहा गया **– मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः** अर्थात् साधु न तो मोक्ष की कामना करे, न संसार की कामना करे। वह बिल्कुल निष्काम बन जाए। बस, आत्मा में रहे, मोक्ष अपने आप हो जाएगा। जिसका मुख बाहर है, उसका ध्यान भी बाहर लगा रहता है।

राजा भोज संस्कृत भाषा का प्रेमी था। उसने एक दिन घोषणा की, जो पंडित मुझे नया श्लोक बनाकर सुनाएगा, उसको मैं एक लाख स्वर्णमुद्राएं दूंगा। पंडितों में नया श्लोक बनाकर राजा को सुनाने की होड़-सी लग गई। मंत्री ने सोचा, इस प्रकार राजाजी लाख-लाख स्वर्णमुद्राएं देना शुरू कर देंगे तो जल्दी ही भंडार खाली हो जाएगा। ऐसे राज्य कैसे चलेगा? मुझे ऐसा उपाय खोजना चाहिए, जिससे किसी भी पंडित को लाख रुपये न मिले। उसने संस्कृत भाषा को जानने वाली कुछ कन्याओं को तैयार किया। उन्हें समझा दिया कि कोई पंडित श्लोक बोले तो उसे तुम अवधारित कर लेना और वापिस श्लोक को वैसा का वैसा सुना देना। पंडित नये श्लोक बनाकर बोलते और कन्याओं के द्वारा कहा जाता कि यह श्लोक तो हमें पहले से याद है। कन्याएं तत्काल श्लोक बोलकर सुना देतीं। पंडित शर्मिन्दा हो जाते। राजा कहता – यह तो पुराना श्लोक है, आपको स्वर्णमुद्राएं नहीं मिलेंगी। सैकड़ों पंडितों के साथ ऐसी घटना घट गई। मंत्री के दिमाग था तो किसी पंडित के भी दिमाग था। उसने सोचा, हमें भी कोई उपाय करना चाहिए। राजसभा जुड़ी हुई थी। राजा भोज सिंहासन पर आसीन थे। एक पंडित ने कहा – महाराज! आपको एक बात याद दिलाने आया हूं। उसने स्वरचित श्लोक सुनाते हुए कहा –

स्वस्ति! श्रीभोजराज! त्रिभुवनविदितो धार्मिकस्ते पिताऽभूत्।
ताः मे देहीति राजन्! सकलबुधजनः ज्ञायते सत्यमेतत्,
नो वा जानन्ति चैतत् मम कृतिरथवा देहि लक्ष्यं ततो मे,
पित्रा ते वै गृहीता नवनवतिमिता रत्नकोट्यो मदीयाः।।

हे राजन्! आपके पिताश्री बड़े धार्मिक स्वभाव के आदमी थे। एक बार वे संकट में आ गये। उस समय मेरे पास काफी धन था। उन्होंने कहा — पंडितजी! मेरा राज्य संकट में है। आपको सहयोग करना होगा। एक बार आप हमें उधार के रूप में राशि दे दीजिए, हम वापिस आपको राशि चुका देंगे। महाराज! उस संकट के समय मैंने निन्यानवें करोड़ स्वर्णमुद्राएं उधार दी थीं। महाराज! समय बीता, आपके पिताजी का स्वर्गवास हो गया। वे मेरा ऋण चुका नहीं पाए, आप उनके योग्य पुत्र हैं। पिता का कर्जा चुकाना पुत्र का फर्ज है। वे तो चले गये, पर आप तो विद्यमान हैं और आप काफी सम्पन्न भी हैं, इसलिए वह मेरी राशि आप चुकाइए। महाराज! यह बात तो सब जानते हैं। और तो क्या, ये कन्याएं भी जानती हैं। कन्याएं बोलीं — नहीं-नहीं, हम बिल्कुल नहीं जानतीं। पंडित बोला— महाराज! अगर ये कन्याएं इस बात को नहीं जानती हैं तो इसका मतलब है, मेरा श्लोक नया है। लाइए, एक लाख स्वर्णमुद्राएं दीजिए। पंडितजी ने ऐसा श्लोक बोला कि या तो निन्यानवें करोड़ दें या एक लाख दें। कुछ तो देना ही पड़ेगा।

संसार में छलना, चातुर्य, होशियारी कई चीजें चलती हैं। गीताकार ने कहा— छलना, वंचना आदि से बचो, आत्मा में लीन हो जाओ, ध्यान आत्मा में रखो। गीता और उत्तराध्ययन जैसे ग्रंथों का स्वाध्याय करने से एक आलोक प्राप्त हो सकता है, जीवन का दर्शन प्राप्त हो सकता है। हम दोनों ग्रंथों के सार को पकड़ने का प्रयास करें, कल्याण का पथ प्रशस्त हो सकेगा।

६

नित्य-संन्यासी बनो

आदमी के जीवन में निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि विभिन्न परिस्थितियां आती रहती हैं। व्यक्ति उन परिस्थितियों से प्रभावित हो जाता है। अध्यात्म की साधना करने वाला साधक इन द्वन्द्वात्मक स्थितियों में समता का अभ्यास करे। इस समत्व के अभ्यास को साधने वाले साधक को श्रीमद्भगवद्गीता के पांचवें अध्याय में नित्य-संन्यासी की संज्ञा दी गयी है। श्रीकृष्ण कहते हैं –

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। ५/३।।

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी की आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

चीन के एक राजा क्यांग थे। उन्होंने शुनशुनाओ को तीन बार अपना मंत्री बनाया और तीन बार ही उसे अपने पद से हटा दिया। राजा क्यांग के इन जल्दी-जल्दी लिए गए फैसलों से न तो शुनशुनाओ कभी प्रसन्न हुए और न ही उनके मन में कभी खिन्नता आई। एक बार एक विद्वान व्यक्ति किनबु उनसे मिले और उनके अपार धैर्य का कारण पूछा। शुनशुनाओ अत्यन्त सहज भाव से बोले– जब मुझे मंत्री बनने को कहा गया, तब मैंने सोचा कि राजा व देश को मेरे कौशल की जरूरत होगी। इसे अस्वीकार करना ठीक नहीं होगा, इसलिए मुझे जब भी पद मिला, वह मैंने ग्रहण कर लिया और जब-जब मुझे हटाया गया, तब मैंने यही सोचा कि राजकाज में अब मेरी कोई उपयोगिता नहीं बची होगी, इसलिए मंत्री पद से हटाए जाने को मैंने कभी बुरा नहीं माना। न तो मंत्री पद मिलने पर मुझे कुछ मिला और न ही इस पद से हटने पर मेरा कुछ गया। जो भी सम्मान मुझे मिला वह मात्र पद का था, मुझसे उसको कोई सरोकार

नहीं था। शुनशुनाओ दोनों स्थितियों में राग-द्वेष मुक्त रहा, समत्व में रहा।

एक संन्यासी के मन में कभी उतार-चढ़ाव, कभी राग-द्वेष के भाव आ सकते हैं, किन्तु जिसमें राग-द्वेष का भाव आता रहता है, वह नित्य-संन्यासी नहीं होता। नित्य-संन्यासी की भूमिका वह होती है, जहां आकांक्षा और द्वेष दोनों ही छूट जाते हैं। जो आशा के पाश से जकड़े हुए हैं, वे नित्य-संन्यासी कहलाने के योग्य नहीं होते। गीता के अनुसार आकांक्षा पूर्णतया न भी छूट पाए तो उसका अल्पीकरण हो जाए। गृहस्थ लोग भी इच्छा के अल्पीकरण का अभ्यास करें। अधिक पैसा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति यह चिन्तन करे कि मुझे दाल-रोटी मिल रही है, रहने की व्यवस्था अच्छी है, आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है, फिर मैं पैसे के पीछे क्यों रहूं? अब मैं साधना करूं। यह इच्छा का नियंत्रण हो गया। इसी तरह वस्त्र आदि के बारे में सोचे कि जब मेरे पास इतने कपड़े हैं, तब नये-नये कपड़े पहनने की ज्यादा लालसा क्यों रखूं? प्राचीन संस्कृत साहित्य में तो यहां तक कहा गया है —

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो वधमर्हति।।

जितने से पेट भर जाए, उतना संग्रह तो पास में रखना आदमी का अधिकार है। उससे ज्यादा कोई रखता है तो वह चोर है और इतना ही नहीं, वह मारने-पीटने के लायक है। सारांश यह है कि संग्रह मत करो, ज्यादा इच्छा मत रखो।

जिसमें समता का विकास हो गया, जो निर्द्वन्द्व हो गया यानी प्रियता-अप्रियता, आकांक्षा-द्वेष, इन द्वन्द्वों से जो मुक्त हो गया, वह बन्धन से मुक्त हो जाता है। जिसने समत्व का अभ्यास कर लिया, उससे बड़ा और क्या योग (साधना) का अभ्यास हो सकता है। कितने ही प्राणायाम कर लिए जाएं, कितना ही ध्यान कर लिया जाए, किन्तु समता से बढ़कर कोई योग नहीं हो सकता। साधना भी मुख्यतया समता की प्राप्ति के लिए की जाती है। जिसमें समता का अभ्यास हो जाता है, वह महायोगी बन जाता है। गीता की भाषा में वह नित्य-संन्यासी हो जाता है। कभी राग, कभी द्वेष, कभी नाराज, कभी खुश

ये स्थितियां बार-बार जिनके मन में आती रहती हैं, उसको नित्य-संन्यासी नहीं कहा जा सकता।

ऋषि तो महान् प्रसाद वाले होते हैं। वे क्रोध तत्पर नहीं होते, सदा प्रसन्न रहने वाले होते हैं।

जब आदमी की इन्द्रियां आत्मवश हो जाती हैं, राग-द्वेष मुक्त होकर काम करती हैं तो उसकी आत्मा विधेयात्मा बन जाती है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने कहा है **– विधेये विनयस्थः स्यात्** अर्थात् जो विनय में स्थित होता है, वह विधेय कहलाता है। जब आत्मा नियंत्रित हो जाती है, इन्द्रियां राग-द्वेष मुक्त होकर प्रवृत्ति करने लग जाती हैं तो समझना चाहिए हमारी आत्मा विनीत हो गई। विनीतात्मा विधेयात्मा बनकर प्रसन्नता को प्राप्त हो सकती है।

प्रसन्नता को प्राप्त करने के लिए राग-द्वेष मुक्त होना अपेक्षित होता है। राग-द्वेष मुक्तता की स्थिति आ जाती है तो फिर आत्मा स्वस्थता को प्राप्त हो जाती है। प्रसन्न का एक अर्थ किया गया है स्वच्छ। संस्कृत साहित्य में **प्रसन्नं आकाशम्** का प्रयोग मिलता है यानी जैसे आकाश निर्मल है, स्वच्छ है, वैसे ही हमारे चित्त की जो निर्मलता की स्थिति होती है, वह प्रसन्नता की स्थिति होती है और प्रसन्नता की स्थिति में दुःख-मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न किया गया कि श्रामण्य का सार क्या है? समाधान दिया गया कि जैसे दूध का सार मक्खन होता है, वैसे ही श्रामण्य का सार है उपशम का अभ्यास, कषायमुक्ति का अभ्यास, समता का अभ्यास। जिसमें समता का अभ्यास पुष्ट होता है, वह नित्य-संन्यासी होता है। नित्य-संन्यासी की बड़ी ऊंची भूमिका होती है।

गीता में तीन योग बताए गए हैं – ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। ज्ञान का अभ्यास करते-करते समता का शिखर प्राप्त हो सकता है। भक्ति का अभ्यास करते-करते समता की परम भूमिका पर आरोहण हो सकता है और निष्काम भाव से सेवा करते-करते समता की सर्वोच्च भूमिका प्राप्त हो सकती है। इस त्रि-योग से नित्य-संन्यासी बनने का मार्ग भी प्रशस्त हो सकता है।

बुद्ध की सभा जुड़ी हुई थी। किसी ने प्रश्न किया – आपकी सभा में सबसे ज्यादा सुखी कौन है?

बुद्ध ने कहा – अंतिम पंक्ति में जो आदमी बैठा है, वह सुखी है।

लोगों ने देखा कि वह तो फटेहाल है।

लोग – महाराज! वह तो फटेहाल है। वह क्या सुखी होगा?

बुद्ध – सबसे सुखी वही है। जो लोग आगे बैठे हैं पहले उन्हें पूछो। उसके बाद उससे पूछो।

एक आदमी आगे बैठा था, उससे पूछा – क्या आप सुखी हैं?

आदमी – मैं कहां सुखी हूं? अभी कुछ दिन पहले मेरा इकलौता बेटा मर गया।

दूसरे आदमी से वही प्रश्न किया – क्या आप सुखी हैं?

आदमी – मैं सुखी कहां हूं? मेरे अभी तक बेटा नहीं हुआ। मेरा वंश कैसे चलेगा?

तीसरा व्यक्ति – मेरे पास रहने के लिए मकान नहीं है।

अंत में उस फटेहाल व्यक्ति से पूछा गया – क्या तुम पूर्ण सुखी हो?

व्यक्ति – मैं अपने आप में मस्त हूं। मुझे कोई दुःख नहीं है।

बुद्ध ने कहा – जो लोग आगे बैठे हैं, उनके मन में कोई न कोई आकांक्षा है। उस फटेहाल आदमी के मन में कोई दुःख नहीं है, क्योंकि उसके मन में कोई आकांक्षा नहीं है, कोई चाह नहीं है, इसलिए वह परमसुखी है। गीताकार ने कहा– आकांक्षा छोड़ दो, द्वन्द्व-मुक्त हो जाओ तो तुम सुखपूर्वक बंधनों से मुक्त हो जाओगे और नित्य-संन्यासी बन जाओगे। उत्तराध्ययनकार ने कहा – समता का अभ्यास कर लो, समत्वयोगी बन जाओ। आदमी समतावान बन जाए या नित्य-संन्यासी बन जाए, दोनों का तात्पर्य एक ही है। शब्दों की भिन्नता हो सकती है। आत्मा एक है, तात्पर्य एक है, अर्थ एक है। बात का सार यही है कि आदमी समता से रहने का यानी आत्मस्थ होने का अभ्यास करे, सफलता प्राप्त हो सकेगी।

७

निर्लिप्त बनो

मनुष्य शरीरधारी प्राणी है। केवल मनुष्य ही नहीं, सभी प्राणी शरीरधारी होते हैं। शरीर को टिकाने के लिए या जीवन जीने के लिए प्रवृत्ति की जाती है। प्रवृत्ति होती है तो बंधन भी होता है। साधक के सामने समस्या यह आ जाती है कि जीना है तो प्रवृत्ति करनी होगी और प्रवृत्ति करने से कर्मों का बंध होगा और कर्मों के बंधन से संसार में भ्रमण करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए? यह स्पष्ट है कि शरीर की प्रवृत्ति को छोड़ा नहीं जा सकता। उस स्थिति में कौनसा रास्ता ऐसा हो सकता है कि प्रवृत्ति भी हो सके और बंधन से भी बचा जा सके? श्रीमद्भगवद्गीता में इस संदर्भ में मार्गदर्शन देते हुए कहा गया है –

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। ५/७।।

जिसका मन अपने वश में है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरण वाला है और संपूर्ण प्राणियों का आत्मरूप परमात्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

जो प्रवृत्ति करते हुए भी लिप्त नहीं होता, वह बन्धन से काफी बच सकता है। जिसके पास पांच इन्द्रियां हैं, वह पंचेन्द्रिय कहा जाता है। जितेन्द्रिय वह होता है, जो इन इन्द्रियों पर काबू कर लेता है। मनुस्मृति में कहा गया –

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च, भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति न ग्लायति वा, सः विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

कुछ सुनकर, किसी का स्पर्श कर, किसी को देखकर, कुछ खाकर और सूंघकर यानी जो इन्द्रिय-विषयों के प्रति न ग्लानि, न हर्ष, न राग, न द्वेष करता

है, वह व्यक्ति जितेन्द्रिय होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में इन्द्रियों का विस्तृत विवेचन किया गया है और वहां इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष न करने की और राग-द्वेष करने से होने वाले नुकसान की बात बड़े सुंदर तरीके के साथ प्रस्तुत की गयी है। वहां कहा गया है –

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न या मणुण्णेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ।।३२/२१ ।।

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनकी ओर भी मन न करे यानी राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं, उनकी ओर भी मन न करे यानी द्वेष न करे।

जितेन्द्रिय बनने का अभ्यास करने के लिए इन्द्रियों का निरोध भी करे और निग्रह भी करे। ओवाइयं सूत्र में पांचों इन्द्रियों के निरोध और निग्रह का सुन्दर चित्रण किया गया है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति न करना इन्द्रिय-निरोध होता है और इन्द्रिय-विषय के प्रति राग-द्वेष न करना इन्द्रिय-निग्रह होता है।

भारतीय धार्मिक जगत् में ध्यान की चर्चा बहुत चलती है। ध्यान का प्रयोग करते समय चाहे अनचाहे इन्द्रिय-निरोध हो जाता है। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करते समय कायगुप्ति की जाती है। उसमें आंखें बंद कर मन श्वास पर टिकाया जाता है, जिससे इन्द्रिय-निरोध अपने आप हो जाता है। अन्य ध्यान पद्धतियों में भी इन्द्रियों का निरोध होता है।

जैन वाङ्मय के ओवाइयं सूत्र में अनासक्ति की साधना के दो उपाय निर्दिष्ट हैं। पहला निर्देश दिया गया – इन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध करो यानी इन्द्रिय-विषयों में मत जाओ। जिस प्रकार हमारे मन के अनुकूल प्रशंसात्मक शब्द आ रहे हैं और हमने कानों को बंद कर दिया या सुनने में ध्यान नहीं दिया, यह श्रोत्रेन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध हो गया। कोई रूपवती औरत सामने है, उसको देखने की इच्छा हो रही है, लेकिन आंखों को बंद कर लिया, यह चक्षुरिन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध हो गया। बहुत अच्छी सुगन्ध आ रही है, मन कह रहा है सुगन्ध और लूं, किन्तु सुगन्ध ग्रहण नहीं की, यह घ्राणेन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध हो गया। सामने स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ हैं, खाने को जी ललचा रहा है, पर नहीं खाया, जिह्वा-संयम कर लिया, यह रसनेन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध हो गया। इसी तरह कोमल मखमल के गद्दे पर सोने में आनन्द आता है, पर गद्दे पर नहीं सोया, कठोर पट्ट पर सोया, यह स्पर्शनेन्द्रिय-विषय प्रसार निरोध हो गया।

दूसरा निर्देश दिया गया कि सुनने, देखने आदि में राग-द्वेष का निग्रह करो। यदि सुनना है, देखना है तो यह ध्यान रखो कि मेरे मन में राग-द्वेष न आए। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है –

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।२/५९।।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।

यहां निराहार शब्द का प्रयोग किया गया है। गीता की व्याख्या में रामसुखदासजी महाराज ने निराहार के मुख्य दो अर्थ किए हैं – १. आहार नहीं करना। २. विषय-सेवन नहीं करना।

जब भोजन छोड़ देते हैं तो हमारा विषय-सेवन भी कम हो जाता है, क्योंकि शरीर में क्षमता कम हो जाती है। मैं जब छोटा था, तब कभी-कभी उपवास किया करता था। उस समय मेरी कूद-फांद, घूमना, फिरना, चपलता आदि सब बंद हो जाती। तब मेरी संसारपक्षीया मां विनोद में कभी-कभी एक दोहा कहा करती थीं –

अनियो नाचै, अनियो कूदै, अनियो करै बड़ाई।
आज म्हारै अनियो कोनी, क्यांसूं करां लड़ाई।।

अन्न छोड़ देने पर ये सब चीजें बहुत कम अथवा बन्द हो जाती है। जब आहार छोड़ देंगे तो विषय-निवृत्ति हो जाएगी। फिर भोग-विलास भी कम हो जाएंगे। आहार छोड़ने के भी दो कारण हैं। पहला कारण है परवशता। जब कोई आदमी बीमार हो जाता है और डॉक्टर के द्वारा कह दिया जाता है कि अब तला हुआ मत खाओ, मिठाइयां मत खाओ, ज्यादा घी मत खाओ यानी बीमारी आदि के कारण विवशता में कुछ चीजें छोड़नी पड़ती हैं। दूसरा कारण है स्ववशता। आदमी स्वेच्छा से, त्याग की भावना से भोजन आदि छोड़ता है। एक तो परवशता में छोड़ता है और दूसरा शरीर स्वस्थ है तो भी भोजन का त्याग करता है, यह बड़ी बात है।

निराहार का दूसरा अर्थ है – विषय-सेवन नहीं करना, जैसे – कान को बन्द कर लिया तो सुनने का यानी शब्द का सेवन बन्द हो गया। आंखों को बन्द कर लिया तो रूप देखने का संयम हो गया। नाक को बन्द कर लिया तो

गन्ध- ग्रहण का संयम हो गया। जीभ से कुछ नहीं खाया तो स्वाद का निरोध हो गया और शरीर से कोई स्पर्श नहीं किया तो स्पर्श का निरोध हो गया।

जो मनुष्य निराहार बन जाता है। उसके विषयों की निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मात्र विषय को छोड़ने से भीतर की आसक्ति नहीं छूटती है, इसलिए गीताकार ने कहा कि त्याग कर देने से, विषयों को छोड़ देने से, निराहार हो जाने से विषयों की निवृत्ति तो हो जाती है, पर आसक्ति नहीं छूटती है। वह तब छूटती है, जब परम का दर्शन होता है। जब आदमी भीतर का दर्शन करता है और उसका आकर्षण भीतर की ओर हो जाता है तो फिर उसकी भीतर की आसक्ति भी छूट जाती है। हमारी साधना विषयों से निवृत्ति की भी चले और उसके साथ-साथ आसक्ति का त्याग करने की भी चले ताकि भीतर का सुख प्राप्त हो सके। जब भीतर का सुख मिल जाएगा तो फिर बाहर के सुख गौण हो जाएंगे।

जैन सिद्धान्त दीपिका में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है – **एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम् ६/४१** एक आलम्बन पर मन को टिकाना और योग-निरोध करना यानी न सोचना, न बोलना, न शारीरिक चेष्टा करना, त्रिगुप्ति का अभ्यास करना ध्यान की साधना है, किन्तु यह भी सचाई है कि एक समय के बाद ध्यान संपन्न करना होगा और आदमी को प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। आखिर वह कब तक बिना देखे, बिना सुने, बिना खाए, बिना बोले, बिना सूंघे और बिना कोई कार्य किए रह सकेगा? शास्त्रकार ने कहा कि सुनना, देखना आदि हो तो इन्द्रियों का निग्रह करो। शब्दों में राग-द्वेष न आए, रूपों में राग-द्वेष न आए, अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी राग द्वेष न आए, ऐसा अभ्यास करो। निरोध और निग्रह का अभ्यास आदमी को जितेन्द्रिय बनाता है। गीताकार ने प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में बड़ी सुंदर बात कही है कि **सर्व भूतात्मभूतात्मा** अर्थात् सब जीवों को अपने समान समझने वाला। जो सबको अपनी आत्मा के समान मानने वाला है, वह लिप्त नहीं होता। इससे बिल्कुल मिलता-जुलता प्रयोग दसवेआलियं में प्राप्त होता है –

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधई।।४/९।।

जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, जो आश्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसके पापकर्म का बंधन नहीं होता।

सभी प्राणियों को अपने समान समझ लेना अहिंसा की बहुत उत्कृष्ट साधना होती है। यह अनुभूति करना कि जैसी चेतना मेरे में है, वैसी ही चेतना दूसरों में है। मुझे कष्ट होता है तो दूसरों को भी कष्ट होता है। मुझे सुख प्रिय है तो दूसरों को भी सुख प्रिय है, इसलिए मैं दूसरों के सुख में व्यवधान पैदा न करूं, यह विशिष्ट साधना है।

निष्काम कर्म करना कर्मयोग है। जो व्यक्ति योगयुक्त होता है, वह संसार में बंधनों से लिप्त नहीं होता। गीताकार ने कहा – प्रवृत्ति करने से बंधन होता है। इस बंधन से छुटकारा पाने के लिए तुम योगयुक्त बन जाओ, विशुद्धात्मा बन जाओ, जितेन्द्रिय बन जाओ। फिर तुम जो भी प्रवृत्ति करोगे यानी खाओगे, पिओगे, सोओगे, जागोगे आदि सारी प्रवृत्तियों को करते हुए भी तुम अलिप्त रहोगे। अलिप्त रहने से तुम्हारे कोई विशेष बंधन नहीं होगा, क्योंकि बंधन के लिए चेप चाहिए, स्नेह चाहिए। जहां चेप नहीं होता, वहां बंध भी नहीं होता। व्यक्तिगत संबंधों में भी स्नेह होता है तो व्यक्ति आकृष्ट हो जाता है। यदि स्नेह नहीं होता है तो कोई निकट भी नहीं आता। आदमी के व्यवहार में चेप होता है, वह व्यक्तियों को परस्पर निकट कर देता है। वही स्नेह कई बार घातक भी बन जाता है। अति स्नेह हो जाता है, मोह हो जाता है तो हमारी साधना में बाधक भी बन जाता है, इसलिए किसी से भी न ज्यादा स्नेह रहे और न कोई दूराव रहे, क्योंकि मोह हो जाए तो भी बंधन की बात होती है और द्वेष है तो भी बंधन की बात होती है। साधक न तो मोह में जाए और न द्वेष में जाए। वह अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखे। मधुरता के साथ, व्यवहार-कौशल के साथ रहे।

जो व्यक्ति वीतरागता के निकट पहुंच गया, जिसमें अहिंसा की चेतना का जागरण हो गया, ऐसा व्यक्ति प्रवृत्ति करते हुए भी अलिप्त रह सकता है, प्रायः बंधनमुक्त रह सकता है।

६

अनुप्रेक्षा करो

उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय के पांच प्रकार बताए गए हैं। उनमें एक है — अनुप्रेक्षा। साधना के अनेक प्रयोगों में अनुप्रेक्षा का भी एक प्रयोग निर्दिष्ट किया गया है। अनुप्रेक्षा एक चिन्तन-मनन की स्थिति है। अचिन्तन का महत्त्व है तो चिन्तन का भी बड़ा महत्त्व है। जब आदमी चिन्तन की गहराई में उतरता है तो कई बार ऐसा रत्न प्राप्त हो जाता है, जो बड़ा बहुमूल्य अथवा अमूल्य होता है। जिस प्रकार कल्पान्त के समय समुद्र का पानी फेंका जाता है, तब रत्न प्राप्त किए जा सकते हैं। उसी प्रकार जब हमारा अज्ञान रूपी जल दूर हो जाता है, तब भीतर में जो रत्न होते हैं, वे हमें दिखाई देने लग जाते हैं। हम प्राचीन ग्रन्थों को देखें, उनमें कुछ विशेष अनुभूतियां, जो ऋषियों-महर्षियों और साधकों ने कीं, उन पर भी अनुप्रेक्षा की जाए तो कुछ विशेष प्राप्त हो सकता है।

अनुप्रेक्षा ज्ञानाराधना की प्रक्रिया का एक अंग है। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं — वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। धर्मकथा से पूर्व इन चार तत्त्वों का अभ्यास आवश्यक है। धर्मकथा की अर्हता तब प्राप्त हो सकेगी, जब पहले वाचना होगी, जिज्ञासा की जाएगी, प्रश्नों का समाधान दिया जाएगा, ज्ञान की परावर्तना का अभ्यास होगा, अनुचिन्तन होगा। जिसका स्वयं का ज्ञान अस्पष्ट है, विशेष कुछ जानता भी नहीं है, न आगमों को पढ़ा है, न सिद्धान्त को समझा है, वह व्यक्ति क्या धर्मकथा करेगा? जब व्यक्ति इन चार प्रक्रियाओं से अच्छी तरह गुजर जाता है, तब उसे धर्मकथा का अधिकार मिल सकता है। गुरुदेव तुलसी बड़े धर्मकथी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में कितने-कितने प्रवचन किए। कितना ज्ञान कंठस्थ किया, कितना अध्ययन किया, कितनी जिज्ञासा की होगी, कितना पुनरावर्तन किया होगा, कितनी अनुप्रेक्षा की होगी, तब वे धर्मकथा के अधिकारी बने होंगे, ऐसा प्रतीत होता है।

अनेक लोग धर्मकथा सुनते हैं, किन्तु सुनने के बाद कुछ अनुप्रेक्षा की जाए तो ज्ञान स्पष्ट हो सकता है। इस संदर्भ में तीन बातें कही जाती हैं — श्रवण, मनन और निदिध्यासन। श्रवण काफी लोग करते हैं। मनन और निदिध्यासन कम व्यक्ति करते हैं। मनन और निदिध्यासन गहराई में जाने की स्थितियां हैं। कुछ लोग तो गहराई में जाते भी होंगे, किन्तु सबके पास इतनी प्रतिभा भी नहीं होती है। वे तो सुन लें, उतना ही काफी है। जो प्रतिभाशाली हैं, उनको अनुप्रेक्षा का अभ्यास करना चाहिए। परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी ने आगम अनुसंधान का कार्य किया। उनकी विशेष प्रतिभा थी। वे तत्त्व की गहराई में पहुंच जाते। वैसा अभ्यास हो जाए, तर्कशक्ति निष्पन्न हो जाए और यथार्थ के प्रति आस्था प्रगाढ़ हो जाए तो अनुप्रेक्षा करना आसान हो सकता है। श्रीमज्जयाचार्य कितना स्वाध्याय करते थे। उन्होंने जीवनकाल के अंतिम कुछ वर्ष तो मानो स्वाध्याय-साधना के लिए ही समर्पित कर दिए थे। वे कई बार फरमाते — मघजी! आज उत्तराध्ययन सूत्र में नया रत्न मिला है। उनका यह कथन अनुप्रेक्षा का सूचक बनता है। वे अनुप्रेक्षा करते और उन्हें रत्न मिल जाते।

जो व्यक्ति प्रज्ञाशील होता है, जागृत चेतना वाला होता है, उसके लिए गहरा तत्त्व पाना भी कठिन नहीं होता। आचार्य भिक्षु के पास प्रज्ञा थी, तार्किक बल था और अनुप्रेक्षा का बल भी था। तभी उन्होंने तत्त्वों का निचोड़ निकाला और आगमों का मंथन किया। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया — अनुप्रेक्षा करने से कर्म निर्जरा होती है। आगम आदि का स्वाध्याय करने से, तत्त्वों की गहराई में जाने से हमारे कर्म प्रकंपित हो जाते हैं और वे झड़ने की स्थिति में आ जाते हैं। जो प्रगाढ़ कर्म हैं, वे मंदता की स्थिति में आ जाते हैं। प्रलम्बकाल वाले कर्म अल्पकाल की स्थिति में आ जाते हैं। हम एक-एक ग्रन्थ को एक लक्ष्य के साथ पारायण करने का प्रयास करें। हमारी जितनी बहुश्रुतता बढ़ेगी, हमें अनुप्रेक्षा में सहायता मिलेगी। आगम-संपादन के कार्य में जो कुछ निखार आया है, उसमें परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का बाहुश्रुत्य मुखर हो रहा है। आगम-अनुसंधान में अनेक ग्रन्थों का उपयोग अनुप्रेक्षा से ही संभव हो सकता है। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन होने से बात में संगति बिठाने में भी सहायता मिलती है और फिर लेखन में भी निखार आ जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन सूत्र में जो निर्देश हैं, मनीषी व्यक्ति

उन पर भी मनन करे, अनुप्रेक्षा करे। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया —

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।५/१०।।

जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भांति पाप से लिप्त नहीं होता।

साधना की दृष्टि से, आसक्ति की दृष्टि से धार्मिक साहित्य में कमल का उदाहरण दिया जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया —

जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं, तं वयं बूम माहणं।।२५/२६।।

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

यह ब्राह्मण की बहुत सुंदर परिभाषा है अर्थात् जाति से ब्राह्मण नहीं, जो साधक है, ज्ञानी है, वह ब्राह्मण है। अनासक्ति की साधना करने वाला व्यक्ति माहन् या ब्राह्मण होता है।

गीताकार ने कहा कि साधक यह अनुभव करे कि मैं कुछ नहीं करता। मैं तो आत्मा हूं। जो कुछ हो रहा है, वह शरीर के द्वारा हो रहा है। शरीर देखता है, शरीर छूता है, शरीर खाता है, शरीर चलता है, शरीर सोता है, शरीर श्वास लेता है। सारी प्रवृत्तियां शरीर कर रहा है। मैं तो आत्मा हूं। गीताकार ने कर्मों को, प्रवृत्तियों को भगवान् में अर्पित करने की बात कही, किन्तु जैनदर्शन इससे सहमत नहीं है। वह इस प्रकार के परमात्मा या ब्रह्म को नहीं मानता, जो कर्ता-धर्ता हो। वह कहता है कि हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह निर्जरा के लिए कर रहे हैं। दसवेआलियं में कहा गया कि निर्जरा के सिवाय और किसी उद्देश्य से तपस्या मत करो। साधक यह सोचे कि मैं कोई भी काम न प्रशंसा के लिए करूं, न ख्याति के लिए करूं। मात्र निर्जरा के लिए अथवा दायित्व-निर्वाह करने के लिए करूं।

इस प्रकार ग्रंथों की अनुप्रेक्षा करने से उनकी अर्थात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। जिनके पास प्रतिभा है, प्रज्ञा है, बुद्धिबल है, वीजन है, वे व्यक्ति कुछ सार तत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। आदमी में वीजन जाग जाए और किसी

चीज को पकड़ने की शक्ति जाग जाए तो अनुप्रेक्षा का अभ्यास सार्थक व सफल सिद्ध हो सकता है। जहां स्वाध्याय के संदर्भ में अनुप्रेक्षा को एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना गया, वहीं प्रेक्षाध्यान की पद्धति में भी वृत्ति-परिष्कार के लिए अनुप्रेक्षा एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है, जैसे—किसी आदमी में भय की संज्ञा ज्यादा है तो उसे अभय की अनुप्रेक्षा का अभ्यास कराया जाता है, किसी में आसक्ति का भाव ज्यादा होता है तो उसे अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है। हम पद्मपत्र को उदाहरण के रूप में सामने रखकर स्वयं के मन को आसक्ति से अलिप्त रखने का प्रयास करें। सामान्यतया आदमी के जीवन में आसक्ति का भाव रहता है। आसक्ति के कारण आदमी विषय-सेवन में प्रवृत्त हो जाता है। विषय-सेवन में अतिमात्र प्रवृत्त हो जाने के कारण आदमी जहां एक ओर सघन कर्मों का बन्ध करता है, वहीं कई बार अपना व्यावहारिक नुकसान भी कर लेता है। आसक्ति का संबंध इन्द्रिय-विषयों के साथ होता है। आदमी की आसक्ति शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में होती है अथवा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति भी हो सकती है। हमें अनासक्त होने की साधना करनी है। साधना तभी हो सकती है, जब आदमी के मन में दुःख-मुक्ति की भावना हो और परमसुख पाने का लक्ष्य हो। हमें दुःख-मुक्त होना है, परमसुखी बनना है तो फिर आसक्ति को छोड़ना होगा, आसक्ति के जाल से अपने आपको निकालना होगा, तभी सुख का साम्राज्य प्राप्त हो सकेगा।

९

अपने मित्र बनो

आत्मवाद एक प्रमुख सिद्धान्त है। आत्मवाद के साथ कर्मवाद भी जुड़ा हुआ है। दार्शनिक जगत् में आत्मा, कर्म और लोक के संदर्भ में विभिन्न मत रहे हैं। इनमें कहीं-कहीं ऐकमत्य का अवलोकन होता है तो कहीं वैमत्य का विलोकन भी होता है। आत्मकर्त्तृत्व के सिद्धान्त को कोई दर्शन स्वीकृत करता है तो कोई उसे अस्वीकृत भी कर देता है। नास्तिक दर्शन न परलोक को मानता है, न पुनर्जन्म को मानता है और न पुण्य-पाप के फल को मानता है। वहां क्या वैमत्य होगा, क्या ऐकमत्य होगा? आस्तिक विचारधाराओं में आत्मवाद का सिद्धान्त मान्य रहा है। कहीं आत्मा को कर्मों का कर्ता माना गया है तो कहीं ईश्वर या परमात्मा को कर्मों का फल देने वाला माना गया है।

जैनदर्शन इस बात को नहीं मानता कि परमात्मा या ईश्वर सृष्टि का कर्ता-हर्ता है अथवा व्यक्ति के सुख-दुःख का दाता है। वह तो आत्मा को ही सब कुछ मानता है, आत्मा को ही कर्मों का कर्ता और भोक्ता मानता है। आत्मवाद के विचारकों ने कहा कि तुम जैसा करोगे, वैसा फल पाओगे। तुमने पुण्य का अर्जन किया है तो तुम्हें शुभात्मक फल मिल जाएगा और तुमने पाप का अर्जन किया है तो तुम्हें अशुभात्मक फल मिल जाएगा, जिम्मेदार तुम ही हो। जैसा बोओगे, वैसा काटोगे। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया —

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।।२०/३७।।

आत्मा ही सुख-दुःख को करने वाली और उनका क्षय करने वाली है। सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

व्यक्ति के अपने-अपने मित्र भी होते हैं। कइयों के अनेक मित्र होते हैं। कोई अभिन्न मित्र होता है तो कोई थोड़ा दूर का होता है। उनमें परस्पर मधुर आलाप-संलाप होता है। हालांकि दुनिया में सच्चा मित्र मिलना कठिन है। सच्चा मित्र वह होता है, जो कठिनाई में भी साथ खड़ा रह सके, आलम्बन दे सके, संबल दे सके और मात्र प्रिय बात ही न कहे, हितकारी बात भी कह सके, भले वह कटु भी क्यों न हो। ये दो शर्तें हैं सच्चे मित्र की। इन दो कसौटियों पर खरा उतरने वाला मित्र सच्चा मित्र हो सकता है। अध्यात्म की भाषा में मैं यह बताना चाहता हूं कि दूसरा कोई तुम्हारा मित्र नहीं है। वास्तव में तुम ही तुम्हारे मित्र हो। आयारो का उद्घोष है – **पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि?** अर्थात् हे पुरुष! तुम ही तुम्हारे मित्र हो। फिर तुम बाहर किस मित्र की खोज कर रहे हो? जो अपना मित्र स्वयं बन जाता है, उससे अच्छा मित्र कौन हो सकता है? हम अच्छे कार्य करते हैं तो अपने मित्र बन जाते हैं और गलत कार्य करते हैं तो हम अपने ही शत्रु बन जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इस मित्र-अमित्र की बात को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है –

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६/५।।

अपने द्वारा अपना कल्याण करो। कभी अपने आपको अवसन्न मत करो, क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

अनेक लोग जो भक्तिवादी या भक्तियोगी हैं, वे परमात्मा के प्रति समर्पित रहते हैं। उनके अनुसार जो कुछ करेगा वह परमात्मा करेगा। जैनदर्शन ने ईश्वर- कर्त्तृत्ववाद को स्वीकार नहीं किया। उसके अनुसार आत्मा ही साधना करके पूर्ण विशुद्ध होने पर परमात्मा बन जाती है। अनन्त-अनन्त आत्माएं आज तक परमात्म-पद को प्राप्त हो चुकी हैं और अनंत-अनंत आत्माएं भविष्य में परमात्म-पद को प्राप्त होंगी। ईश्वर को जो सृष्टि का कर्ता मानते हैं, उनसे आत्मवादियों की ओर से प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ईश्वर निर्माता, कर्ता-धर्ता है तो फिर ईश्वर का निर्माता कौन होगा? जैसे बेटे का निर्माता बाप है तो बाप का भी कोई निर्माता होगा। वैसे ही सृष्टि ईश्वर के द्वारा कृत है तो ईश्वर का कर्ता कौन होगा? यदि उसका कर्ता कोई नहीं है तो सृष्टि का भी कोई कर्ता नहीं है, यह आसानी से माना जा सकता है।

आत्मकर्त्तृत्ववाद और ईश्वरकर्त्तृत्ववाद, ये दो सिद्धान्त हैं। इनमें भी तर्क दिए जा सकते हैं, किन्तु किसी को तो स्वतः निष्पन्न मानना ही पड़ेगा। भले ईश्वरवादी ईश्वर को मान लें या सृष्टिवादी सृष्टि को मान लें।

जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि स्वभाव से चलती है। पुद्गल के संयोग से जीव विभिन्न रूपों वाला है। इस जीव और पुद्गल के संयोग को सृष्टि कहा जाता है। सृष्टि में परिवर्तन होता रहता है। आज से लाखों वर्ष पहले भी सृष्टि का अलग रूप था। सृष्टि का जो रूप आज है, उसमें उन्नीस हजार वर्ष बाद कितना परिवर्तन आ जाएगा? जब छठा अर आयेगा, तब दुनिया की क्या स्थिति बन जाएगी? धर्म की क्या स्थिति रहेगी? साधु समुदाय की क्या स्थिति रहेगी? सबमें कितना परिवर्तन आ जाएगा? सारा परिवर्तन अपने क्रम से होता है। कोई ईश्वर करने वाला नहीं है। जैनदर्शन बारह अर वाले कालचक्र को स्वीकार करता है। इसमें विकास और ह्रास का क्रम चलता रहता है। अवसर्पिणी काल ह्रास की ओर ले जाने वाला होता है और उत्सर्पिणी काल विकास की ओर आगे बढ़ाने वाला होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया —

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।५/१४।।

परमात्मा मनुष्यों के न तो कर्तापन की, न कर्मों की और न कर्मफल के संयोग की रचना करते हैं, किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है।

ईश्वर न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है। यह जैनदर्शन से मेल खाने वाली बात है। पुण्य और पाप को करने वाली और उसके फल को प्राप्त करने वाली आत्मा ही है, इसलिए आदमी अपनी आत्मा को निर्मल बनाए रखे। व्यक्ति दुष्प्रवृत्ति से अपनी आत्मा को बचाने का और सत्प्रवृत्ति में उसे नियोजित करने का प्रयास करे। सत्प्रवृत्ति के द्वारा स्वयं को मित्र बनाकर कल्याण की दिशा में प्रस्थान करने से अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

१०

परमगति को प्राप्त करो

भारतीय धार्मिक साहित्य में जप का निर्देश मिलता है। भले किसी व्यक्ति विशेष के नाम का जप हो या नाम रहित गुणपरक किसी मंत्र का जप हो। जप के साथ भजन, कीर्तन, भक्ति-गीतों का संगान और ध्यान आदि की साधना भी जुड़ी हुई है। जप करने में मन लगने का मतलब है, हमारा मन सांसारिक वासनाओं से विरक्त हो रहा है। अगर सांसारिक वासनाओं में, विकारों में मन संलग्न है तो परमात्मा का स्मरण अच्छी तरह नहीं हो सकता। नाम-स्मरण के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया गया है कि संसार में रहते हुए भी तुम्हारा लगाव परमात्मा के साथ हो जाए ताकि तुम पापकर्म के बंधन से बच सको।

हम ध्यान दें कि चौबीस घंटों में हमारे मन में कितने भाव उभरते हैं? जैसे सिनेमाघर में पर्दे पर विभिन्न दृश्य आते रहते हैं, वैसे ही हमारे मन के कैनवास पर भी अनेक भाव अवतरित होते रहते हैं। हमारे मन में अच्छे भाव भी आते हैं और बुरे भाव भी आते हैं। अच्छे भाव कितनी मात्रा में आते हैं और बुरे भाव कितनी मात्रा में आते हैं, यह स्वयं से पूछने का प्रश्न है। इसका समाधान तब मिल सकता है, जब हम अपनी दिनचर्या पर ध्यान दें कि दिनभर में मन में क्या-क्या विचार आए? जिनका लक्ष्य साधना बन गया है, मोक्ष-प्राप्ति की साधना के लिए जो समर्पित हो गए हैं यानी जो संन्यास स्वीकार कर चुके हैं, आध्यात्मिक साधना के पथ पर चलने के लिए कृत्संकल्प हो चुके हैं, ऐसे व्यक्ति परमात्म-पद-प्राप्ति की साधना या आत्म-साक्षात्कार की साधना और भी विशेष रूप से कर सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है —

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।५/१७।।

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और परमात्मा में ही जिनकी निरन्तर एकीभाव से स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अपुनरावृत्ति को अर्थात् परमगति को प्राप्त होते हैं।

गीताकार के उपरोक्त विशेषण बड़े गरिमापूर्ण हैं और साधक उस स्थिति को प्राप्त भी होते हैं, परन्तु साधना में ऐसी स्थितियां भी आती हैं कि साधक का ध्यान परमात्मा से हटकर अन्यत्र चला जाता है।

जैन वाङ्मय में राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का उल्लेख मिलता है। राजर्षि वह कहलाता है, जो पहले राजा होता है फिर ऋषि बन जाता है। राजर्षि ध्यान-साधना में खड़े थे। राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहा था। राजर्षि को देखते ही मन में बड़ा भक्ति का भाव जगा। राजा श्रेणिक उनकी प्रशंसा करने लगा, तब एक दुर्मुख नामक दूत ने कहा — यह तो मात्र ढोंग है। इसने बड़ी नासमझी का काम किया है? अपने छोटे-से बच्चे पर इतने बड़े राज्य का दायित्व सौंपकर स्वयं साधु बन गया। पीछे से शत्रु-सेना ने राज्य पर आक्रमण कर दिया। अब राज्य को लूट लिया जाएगा। उस बच्चे का रखवाला कौन होगा? इसकी पत्नी का क्या हाल होगा? जब ये बातें ध्यान में संलग्न राजर्षि के कानों में पड़ीं, तब राजर्षि का ध्यान आत्मा, परमात्मा में न रहकर राज्य में चला गया। उधर जब राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के पास पहुंचा, दर्शन किए और निवेदन किया — प्रभो! मैंने मार्ग में देखा कि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र, जो कभी राजा था, सुखों में रहने वाला था, वह आज कठोर साधना में संलग्न है। प्रभो! यदि राजर्षि अभी आयुष्य का बंध करे तो उसकी अगली गति क्या होगी?

प्रभु महावीर — यदि अभी आयुष्य का बंध करे तो वह नरक में जाएगा।

राजा श्रेणिक — प्रभो! ऐसे तपस्वी संत भी नरक में जाएंगे तो हम जैसों को कौनसा स्थान मिलेगा?

राजर्षि मन ही मन युद्ध करने लगा। शत्रु-सेना पर प्रहार करने के लिए मुकुट उतारकर फेंकना चाहा। जैसे ही हाथ सिर पर गया, तब भान हुआ — अरे! मैं तो साधु हूं। किसका राज्य? किसका बेटा? किसकी संपत्ति? मैं कहां चला गया? जो बहिर्मुखता थी, वह अन्तर्मुखता में बदल गयी। पुनः ध्यान-साधना में अवस्थित हो गए। विचारों में बदलाव आया। भावों की श्रेणी आरोहण करते-करते उस भूमिका तक पहुंच गए, जहां से पुनः कभी पतन नहीं

हो सकता। कुछ ही देर में घोषणा हो गई कि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र केवलज्ञानी हो गए। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र अपने स्थान से न हिले, न डुले, प्रारम्भ से अन्त तक वैसे ही खड़े रहे, किन्तु मात्र भावों से वे कहां से कहां तक पहुंच गए?

प्राणी में अनेक प्रकार के भाव होते हैं। उसमें लोभ होता है तो संतोष भी होता है। उसमें परिग्रह की चेतना होती है तो त्याग, संयम की चेतना भी जाग जाती है। आसक्ति होती है तो अनासक्ति का भाव भी जाग जाता है। संत के लिए कहा गया कि वह अहिंसा का पुजारी होता है। वह अपने शरीर से, वाणी से और मन से किसी को दुःख नहीं देता, किसी की हिंसा नहीं करता, ऐसे संतों का तो दर्शन ही पापनाशक है। दया आदमी के जीवन का एक गुण होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया —

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।४/२१।।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो आदमी आशा, लालसा से रहित हो जाए, अपने चित्त और आत्मा पर नियंत्रण कर ले, सर्व परिग्रह को त्याग दे, वह साधक शरीर से काम करते हुए भी पापों का बंधन नहीं करता।

अगर जीवन में संयम आ गया तो फिर शारीरिक प्रवृत्ति कर्मबन्ध का हेतु नहीं बनती। संयम और दया की चेतना एक संत में तो होनी ही चाहिए, जन साधारण में भी इनका विकास होना चाहिए। एक गांव में एक बार भागवत कथा की आयोजना की गई। आयोजक एक धनवान सेठ था। कथावाचक ने एक सप्ताह तक बड़े अच्छे ढंग से भागवत कथा का वाचन किया। अन्तिम दिन सेठ एक सोने की चौकी लेकर आया और बोला — कथावाचकजी! आपने बड़ा सुन्दर आयोजन किया, लोगों को बड़ा लाभ मिला। मैं आपको सोने की चौकी भेंट में, दक्षिणा में दे रहा हूं। चौकी देने के बाद थोड़े अहंकार के साथ सेठ ने कहा — कथावाचकजी! आपने अनेक बार कथाएं की होंगी, परन्तु क्या इतना बड़ा कोई दानी आपको आज तक मिला? कथावाचक भी थोड़ा साधक था। उसने सोचा, इसमें तो अहंकार का नाग फुफकार रहा है। कथावाचक के पास कुछ रुपए थे, चूंकि वह गृहस्थ संन्यासी था। उसने दो रुपए चौकी पर रखे और कहा — सेठ साहब! इन दो रुपयों के साथ आपकी चौकी वापस लौटाता हूं। फिर बोला — आज तक आपको इतना बड़ा कोई त्यागी मिला, जिसने दो रुपयों के साथ चौकी वापस लौटाई हो। सेठ का अहंकार चूर-चूर हो गया।

हमारे प्राचीन साहित्य में कहा गया है कि साधु को त्यागी होना चाहिए। जो कांता और कंचन अर्थात् स्त्री और पैसे का त्याग कर देता है, वह संत होता है। संत परमात्मा का दूसरा रूप होता है। वह परमात्मा का प्रतिनिधि होता है। उसमें त्याग और संयम की चेतना, अलोभता की चेतना का विकास होना चाहिए। त्यागी व्यक्ति शरीर से कर्म करते हुए भी तामस कर्मों के बंधन से मुक्त रहता है।

गीता में शरीरधारी को कर्म करते हुए भी पापकर्म के बंधन से दूर बताया गया है। उत्तराध्ययन में बन्धन से मुक्ति का हेतु वीतरागता को बताया गया है। वीतरागता का तात्पर्य है — राग-द्वेष मुक्त चेतना। यह संयम की साधना है। निर्लोभता और अकषायता वीतराग-चेतना के लक्षण हैं। जो निर्लोभता की साधना करता है, अकषायचेत्ता होता है, वह साधक केवल पापकर्म का बंध ही नहीं रोकता, अपितु नवीन कर्मों का बंधन भी नहीं करता। जैन सिद्धान्त बताता है कि वीतराग जब चलता है, तब उसके पैरों के नीचे आकर कोई प्राणी मर भी जाए तो वीतराग के पापकर्म का बंधन नहीं होता। इसी बात को गीता में शैली परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है। वहां कहा गया है कि जो आदमी आशा, लालसा से रहित है, परिग्रह-मुक्त है और आत्म-नियंत्रित है, वह कर्म करते हुए भी पापकर्म का बंधन नहीं करता। दोनों ग्रन्थों से पापमुक्त रहने की प्रेरणा मिलती है।

साधक का लक्ष्य अपुनरावृत्ति को प्राप्त करना है। पुनरावृत्ति का मतलब है कि एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में जाना। कोई जन्मा है तो उसकी मृत्यु निश्चित है और कोई मरा है तो उसका जन्म भी सुनिश्चित है। जन्म के बाद मृत्यु, मृत्यु के बाद जन्म, यह एक चक्र है। इसमें बार-बार जन्म-मरण की आवृत्ति होती रहती है। इस पर जब विराम लग जाता है, तब अपुनरावृत्ति होती है। गीताकार ने अपुनरावृत्ति शब्द को इस रूप में लिया है कि जो व्यक्ति आत्मलीन या परमात्मलीन हो जाते हैं, विषयभोगों से विरक्त हो जाते हैं, वे अपुनरावृत्ति की भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं। वह भूमिका तब प्राप्त होगी, जब ज्ञान की आराधना के द्वारा पाप को प्रकम्पित कर दिया जाएगा। ज्ञान के विभिन्न प्रकार हैं। साधक यह ध्यान दे कि लौकिक ज्ञान की आराधना की जा रही है या अलौकिक ज्ञान की आराधना की जा रही है? अध्यात्मविद्या में परायणता आ रही है या भोगविद्या में परायणता आ रही है? जब

अध्यात्मविद्या में परायणता आ जाती है, यथार्थ को जानने की चेतना जागृत हो जाती है तो फिर अभ्यास करते-करते ज्ञान में तन्मयता आ सकती है और अपुनरावृत्ति की भूमिका प्राप्त हो सकती है। साधक की बुद्धि ज्ञान की आराधना में लगे, क्योंकि बुद्धि के द्वारा नए-नए ज्ञान की आराधना की जा सकती है। यद्यपि बुद्धि के द्वारा कुत्सित कार्य भी किए जा सकते हैं। बुद्धि के द्वारा कठिनाइयों, समस्याओं को पैदा भी किया जा सकता है तो बुद्धि के द्वारा उनका समाधान भी किया जा सकता है।

आयारो में कहा गया – **तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे। ५/६८** मुनि महावीर-दर्शन में दृष्टि नियोजित करे, उसमें तन्मय हो, उसे प्रमुख बनाए, उसकी स्मृति में एकरस हो और उसमें तन्निष्ठ हो जाए।

जो परमात्मा में ही अपने आपको नियोजित करने वाले, उसी में निष्ठा रखने वाले हैं, वे व्यक्ति ज्ञान के द्वारा पाप का नाश करके अपुनरावृत्ति की स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं।

११

स्थिरबुद्धि-संपन्न बनो

साधक के लिए परमात्मलीनता और आत्मलीनता बहुत आवश्यक है, परन्तु परमात्मा में लीनता तब तक नहीं हो सकती, जब तक आदमी विषय-भोगों से विरक्ति का अभ्यास नहीं कर लेता। विषय-भोगों से विरक्ति के साथ-साथ परिस्थितियों में समभाव का विकास आवश्यक होता है। सामान्यतया आदमी की स्थिति यह है कि अनुकूलता आते ही वह खुश हो जाता है और प्रतिकूलता आते ही उदास हो जाता है, दुःखी बन जाता है। यह इस बात का द्योतक है कि चेतना में अभी समता का पूरा विकास नहीं हुआ है। आदमी तो मानो एक खिलौना बना हुआ है। कोई उससे किसी रूप में खेलने का प्रयास कर सकता है। जब वह दूसरों के हाथ की कठपुतली बन जाता है, तब कोई उसे प्रशंसा करके खुश कर देता है और कोई निन्दा करके दुःखी बना देता है।

आयारो में एक सुन्दर सूक्त प्राप्त होता है – **एत्थंपि अग्गहे चरे** अर्थात् अग्रहण का अभ्यास करना चाहिए। हम हर किसी बात को ग्रहण न करें। प्रशंसा के प्रसंग को भी जान लिया जाए, किन्तु ज्यादा खुशी व्यक्त न की जाए। किसी ने गाली दे दी, उसे भी जान लिया जाए, किन्तु मन में उसको स्थापित न किया जाए। यह अग्रहण की स्थिति होती है। समता का विकास करने के लिए अग्रहण की साधना अपेक्षित होती है। ग्रहण कर भी लें तो टिका कर न रखें। जाना, देखा और बात को छोड़ा। राग-द्वेष का भाव उसके साथ न जुड़े। किसी साधु से कोई पूछे कि माता-पिता की याद आती है क्या? माता-पिता की याद नहीं आती, यह कहना कठिन है। यदा-कदा किसी मौके पर याद आ सकती है। याद आना कोई बुरी बात नहीं है। याद आने के बाद भाव कौनसा रहा? यह देखने की बात है। मोह के साथ याद आए तो साधना की कमजोरी है। किसी प्रसंगवश कोई बात याद आ गयी तो कोई अवांछनीय बात

नहीं होती है। श्रीमद्भगवद्गीता का साधना की दृष्टि से, व्यवहार की दृष्टि से और शांति की दृष्टि से निम्न श्लोक मननीय है –

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।५/२०।।

जो प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित है।

गीताकार ने चार शब्द बताए हैं – स्थिरबुद्धि, असम्मूढ़, ब्रह्मवेत्ता व परमात्मलीन। चारों ही शब्दों के अर्थ में बहुत नैकट्य है, तादात्म्य है। जो स्थिरबुद्धि होगा, वह असम्मूढ़ होगा और जो असम्मूढ़ होगा, वह ब्रह्मवेत्ता और आत्मस्थ भी होगा।

पहला शब्द है स्थिरबुद्धि। गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ का एक लम्बा प्रकरण है। वहां अनेक श्लोकों के माध्यम से स्थितप्रज्ञ को व्याख्यात करने का सुन्दर प्रयास किया गया है। जिसकी प्रज्ञा संकल्प-विकल्पों से मुक्त हो जाती है, वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञता की साधना अथवा वीतरागता की साधना का अभ्यास हो जाता है तो प्रसन्नता की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। हर किसी को स्थितप्रज्ञ नहीं कहा जा सकता। जिसमें साधना की गहराई होती है, आचरणों की ऊंचाई होती है और जिसके विकार नष्ट हो जाते हैं, जिसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है, उस व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा जा सकता है। अध्यात्म की साधना का, संयम की साधना का सार है कि आदमी राग-द्वेष से मुक्त होने का अभ्यास करे। यहां पर जो स्थिरबुद्धि शब्द है, वह स्थितप्रज्ञ का ही एक पर्यायवाची शब्द है। वहां प्रज्ञा शब्द का प्रयोग किया गया है और यहां बुद्धि शब्द का प्रयोग किया गया है। अभिधान चिन्तामणि शब्दकोष में प्रज्ञा, बुद्धि के अनेक पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं – मति, मनीषा, धी, धिषणा, ज्ञप्ति, चेतना, प्रतिभा, प्रतिपत्, प्रेक्षा, चित्, उपलब्धि, संवित्ति, शेमुषी, दृष्टि। इन सभी शब्दों में एक ही अर्थ व्याप्त हो रहा है। स्थितप्रज्ञ का जो अर्थ है, वही स्थितधी का अर्थ है और वही स्थिरबुद्धि शब्द का अर्थ प्रतीत होता है। स्थिरबुद्धि का मतलब है जिसकी बुद्धि कभी इधर, कभी उधर डोले नहीं। कभी राग, कभी द्वेष, कभी खुशी, कभी शोक – ये स्थितियां होती हैं तो मानना चाहिए कि बुद्धि स्थिर नहीं है। स्थिरबुद्धि तो बर्फ के समान होती है। बर्फ पर कुछ मिट्टी डाल दी जाती है तो

बहुत आसानी से साफ हो सकती है, किन्तु पानी में मिट्टी मिल जाती है तो पानी को साफ करना कठिन हो जाता है। जिसकी बुद्धि स्थिर हो गयी यानी बर्फ की तरह जिसकी चेतना या मन हो गया, उसको घटनाएं प्रभावित नहीं करतीं। फिर परिस्थितियां आती हैं और चली जाती हैं।

गीताकार ने एक अच्छे शब्द का चयन किया – स्थिरबुद्धि। हालांकि कौनसे शब्द का कहां प्रयोग करना, यह कवि का अपना कौशल होता है। श्लोक का आधार है छन्द। छन्द के अपने नियम होते हैं, जैसे – किस चरण में कितने अक्षर होने चाहिए आदि। अनुष्टुप् श्लोक का नियम है –

श्लोके षष्ठं गुरुर्ज्ञेयं, सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

अनुष्टुप् श्लोक की रचना करनी है तो उसका पहला नियम यह है कि प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होने चाहिए। दूसरा नियम है कि चारों चरणों के आठों अक्षरों में पांचवां अक्षर ह्रस्व होना चाहिए। तीसरा नियम है कि चारों चरणों में छठा अक्षर दीर्घ होना चाहिए। चौथा नियम है कि पहले और तीसरे चरण में सातवां अक्षर दीर्घ होना चाहिए। पांचवां नियम है कि दूसरे और चौथे चरण में सातवां अक्षर ह्रस्व होना चाहिए।

इन विधानों को निभाने के लिए कवि को देखना पड़ता है कि कौनसा शब्द नियमों के अनुरूप इस श्लोक में ठीक बैठ सकता है। प्रश्न हो सकता है कि स्थिरबुद्धि की जगह स्थितधी का प्रयोग क्यों नहीं किया गया? श्लोक-रचना में स्थितधी शब्द में अक्षर कुछ कम रह जाते हैं। यद्यपि स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग किया जा सकता था। चूंकि स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धि में अक्षर बराबर हैं, किन्तु गीता में स्थितप्रज्ञ शब्द का प्रयोग पहले किया जा चुका है। एक बार कहने के बाद दूसरी बार उसी शब्द को काम में लेना औचित्यपूर्ण नहीं लगता।

गीत-निर्माण आदि में भी एक सामान्य नियम है कि जो शब्द एक बार जिस गीत में आ गया, उसी शब्द की पुनरावृत्ति से बचना चाहिए और अन्य शब्द को काम में लेना चाहिए, जैसे – चेतना शब्द एक बार किसी गीत में आ गया, उसी गीत में दूसरी बार, तीसरी बार वही शब्द आए तो कवि की दरिद्रता प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि उसके पास शब्द-भण्डार कमजोर है, इसलिए उसे एक ही शब्द को बार-बार काम में लेना पड़ता है। गीताकार ने दरिद्रता का परिचय नहीं दिया।

दूसरा शब्द है — असम्मूढ़। असम्मूढ़ व्यक्ति मोह-रहित होता है। जैनविद्या की दृष्टि से विचार करें तो बारहवां गुणस्थान असम्मूढ़ अवस्था का है। ग्यारहवें गुणस्थान में तो फिर भी सत्ता रूप मोह रहता है, किन्तु बारहवें गुणस्थान में बिल्कुल मोह नहीं होता। वहां मोह की सर्वथा अस्तित्वविहीन अवस्था हो जाती है।

तीसरा शब्द है — ब्रह्मवेत्ता यानी परमात्मा को जानने वाला। जो समता की साधना करेगा, वही व्यक्ति आत्मा-परमात्मा को जान सकता है। चौथा शब्द है — ब्रह्मनिष्ठ। जिसने मात्र परमात्मा या ब्रह्मा को जाना ही नहीं, उसमें लीन हो गया, वह ब्रह्मनिष्ठ होता है। गीता की इस बात को उत्तराध्ययन की भाषा में कहा गया —

एवं ससंकप्पविकप्पणासो, संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे असंकप्पयतो तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा।।३२/१०७।।

जो समता को प्राप्त हो जाता है, उसके संकल्प और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। जो अर्थों यानी इन्द्रिय-विषयों का संकल्प नहीं करता, उसके कामगुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

जो समता में उपस्थित हो जाता है, उसके सारे राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं और वह वीतराग बन जाता है। गीता में स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि और स्थितधी शब्द का प्रयोग किया गया। उत्तराध्ययन में इन शब्दों के ठीक समानान्तर शब्द वीतराग है। ये शब्द अलग-अलग हैं। शब्दात्मा में अन्तर है, किन्तु अर्थात्मा में ऐक्य प्रतीत होता है। यद्यपि गीता में वीतराग शब्द भी मिलता है। गीता और उत्तराध्ययन, इन दोनों में समता का संदेश दिया गया है। साधक को अनुकूल-प्रतिकूल हर परिस्थिति में समताभाव रखना चाहिए। हम परिस्थिति को न बदल सकें, पर हम अपने आपको बदल लें, अपने आपको समता में रखने का अभ्यास कर लें तो हर स्थिति में हम शांत रहेंगे, प्रसन्न रहेंगे, आत्मस्थ रहेंगे। हम गीता और उत्तराध्ययन के श्लोकों पर मनन करें, उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास करें तो स्थिरबुद्धि-संपन्न बन सकेंगे और वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

१२

अक्षय सुख पाओ

हमारी दुनिया में भोग है तो योग भी है। सामान्य सांसारिक प्राणी भोगी होता है और आत्मसाधना के लिए समर्पित मनुष्य योगी होता है। भोग केवल मनुष्य में ही नहीं, पशु में भी होता है। पशु और मनुष्य में काफी समानता की बातें बताई गईं, किन्तु एक असामानता की बात भी बताई गई। संस्कृत साहित्य का प्रसिद्ध श्लोक है –

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

आहार पशु भी करता है और मनुष्य भी करता है। भूख सबको लगती है। नींद पशु भी लेता है और आदमी भी लेता है। भय की संज्ञा पशु में भी होती है और आदमी में भी होती है। मैथुन-सेवन पशु भी करता है, मनुष्य भी करता है। ये बातें तो पशु और आदमी में समान हैं। एक चीज का अन्तर बताया गया है, वह है धर्म। धर्म जिस रूप में आदमी कर सकता है, उस रूप में पशु नहीं कर सकता। हालांकि एक सीमा तक पशु में भी धर्म की चेतना होती है, परन्तु आदमी जिस उत्कृष्ट धर्म की साधना, आराधना कर सकता है, वह पशु के लिए संभव नहीं है। आदमी वीतराग बन जाता है, किन्तु पशु वीतराग नहीं बन सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में भोग के बारे में बताया गया है

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।५/२२।।

स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा जो भोग भोगा जाता है और उपचार से अन्य इन्द्रियों से भोगे जाने वाले भोग हैं, वे दुःख की योनि हैं, दुःख को पैदा करने वाले हैं यानी भोग से आदमी को दुःख मिलता है और वे अनित्य हैं। ऐसे भोगों में ज्ञानी व्यक्ति रमण नहीं करता।

इस श्लोक में भोग के बारे में तीन बातें बताई गई हैं। पहली बात यह है कि भोग दुःखों को पैदा करने वाले होते हैं। अगर भोग अतिमात्रा में हो जाता है तो अनेक प्रकार की शारीरिक समस्याएं भी पैदा हो सकती हैं और मन में भी दुःखानुभूति होती है। भोग से एक बार आदमी को सुखानुभूति होती है, पर वह सुख कुछ ही देर में चला जाता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया —

इक्षुवद् विरसाः प्रान्ते, सेविताः स्युः परे रसाः।
सेवितस्तु रसः शान्तः सरसः स्यात् परं परम्।।

दूसरे सारे रस अन्त में इक्षु की तरह विरस हो जाते हैं। एक शान्तरस ही ऐसा रस है, जिसका ज्यों-ज्यों सेवन किया जाता है, त्यों-त्यों सरस बनता जाता है।

जिस प्रकार रसदार गन्ने को जब आदमी चूसता है तो उसमें रस आता है, चूस लेने के बाद वह गन्ना विगतरस बन जाता है। इसी प्रकार ये भोग आदि अन्य रस हैं अथवा नव रसों में शांतरस के सिवाय अन्य रस हैं, वे सेवन करने के बाद विगतरस बन जाते हैं। एक शांतरस ऐसा रस है, जिसे जितना काम में लिया जाए, वह आगे से आगे सुख देने वाला ही बनता है। वह कभी विरस नहीं बनता। यदि भोगों में ज्यादा आसक्ति होती है और फिर भोग नहीं भोगे जाते हैं तो कितना दुःख होता है? जिस वस्तु के प्रति आकर्षण होता है, उसका वियोग हो जाने पर आदमी को कितना दुःख होता है? प्रश्न हो सकता है कि भोग आखिर है क्या? इन्द्रियों का विषयों के साथ रागात्मकता युक्त संबंध होना भोग है। भोग भोगते समय आदमी को सुखानुभूति हो सकती है, किन्तु अति भोग भोगने के बाद आदमी को दुःखानुभूति होती है, जैसे — एक आदमी किसी भोज में गया। वहां खूब मनोज्ञ पदार्थ थे। उसने आसक्ति के कारण अतिमात्रा में खा लिए। एक बार तो उसे सुख मिल गया, किन्तु भोजन करने के बाद पेट में तकलीफ होने लगी। खाद्य पदार्थों का भोग भी दुःख पैदा करने वाला बन गया। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय-विषयों के बारे में भी समझा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि भोग अनित्य हैं, स्थायी नहीं हैं। जिस समय भोग भोगा जाता है, उस समय सुख मिल सकता है, पर उसके बाद वह समाप्त हो जाता है, इसलिए पदार्थ और विषयजन्य सुख अस्थायी होते हैं। तीसरी बात यह है कि जो बुद्ध है, विद्वान है, तत्त्ववेत्ता है, वह व्यक्ति भोगों में रमण

नहीं करता। वह अपेक्षानुसार पदार्थ का उपयोग कर लेता है, परन्तु उसमें आसक्ति का प्रयोग नहीं करता, अनासक्त बना रहता है। वह अनपेक्षित पदार्थों का उपयोग भी नहीं करता है। इसी संदर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है –

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ।।१४/१३ ।।

ये कामभोग क्षण भर सुख और चिरकाल तक दुःख देने वाले हैं। बहुत दुःख और थोड़ा सुख देने वाले हैं, संसार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

साधक भोग की स्थिति को, भोग के स्वरूप को समझे और जीवन में योग की ओर भी आगे बढ़े। एक गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि यदि उसके जीवन में भोग है तो योग भी होना चाहिए। मनोरंजन है तो आत्म-रमण का अभ्यास भी होना चाहिए। प्रवृत्ति है तो कुछ निवृत्ति का अभ्यास भी होना चाहिए। रागात्मकता है तो त्याग और विराग का भी अभ्यास होना चाहिए। तब तो गार्हस्थ्य जीवन संतुलित रहेगा। जहां योग, साधना, त्याग, निवृत्ति गौण हो जाए और भोग, राग, मोह, मनोरंजन, प्रवृत्ति आदि प्रधान बन जाए तो मानना चाहिए कि आदमी दुःख की ओर अग्रसर हो रहा है। धार्मिक साहित्य में त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के बारे में सुंदर परामर्श दिए गए हैं। पहला परामर्श दिया गया है कि गृहस्थ के लिए अर्थ अपेक्षित है, पर तुम अर्थ का अर्जन करने में इतने ज्यादा मत उलझो कि काम और धर्म कमजोर पड़ जाए, गौण हो जाए। दूसरा परामर्श यह दिया गया कि तुम काम में इतने ज्यादा अनुरक्त मत बनो कि कमाई भी न कर सको और धर्म की साधना भी न कर सको। तीसरा परामर्श यह दिया गया कि धर्म भी इतना ज्यादा मत करो कि तुम कमाई भी न कर सको और काम-सेवन भी न कर सको। यदि तुम गृहस्थ हो तो गृहस्थ के हिसाब से चलो। अर्थ, काम और धर्म – इन तीनों में संतुलन रहना चाहिए। तीसरा परामर्श कुछ अटपटा-सा लगेगा कि धर्म भी ज्यादा मत करो, यह क्यों कहा गया ? इस कथन का मतलब यह है कि एक गृहस्थ यदि दिनभर सामायिक करता रहे तो परिवार का भरण-पोषण कैसे होगा ? गृहस्थी कैसे चलेगी ? एक महिला यदि सुबह से शाम तक धर्म-ध्यान करती रहे तो घर में रसोई कौन बनाएगा ? घर की व्यवस्था कौन संभालेगा ? इसलिए कहा गया कि धर्म भी सीमा में करो ताकि गृहस्थ- जीवन में असंतुलन न हो जाए। धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों में संतुलन रहता है तो गार्हस्थ्य का क्रम

ठीक चलता है। संतुलन के अभाव में गार्हस्थ्य में भी गड़बड़ी पैदा हो सकती है।

आदमी भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए माया, मृषा, छलना, अदत्तादान आदि का प्रयोग भी कर लेता है और आखिर वह दुःख के गर्त में गिर जाता है। कभी-कभी आदमी एक बार गलती कर लेता है और बाद में संभल भी जाता है। आदमी से भूल तो हो सकती है, पर भूल होने के बाद भी अगर आदमी संभल जाए तो वह विशेष बात होती है। साधक के मन में भी कभी-कभी ऐसी भावना जाग जाती है कि वह संन्यास को छोड़ देता है। फिर जब वापिस मन में यह विचार आता है कि अरे! मैंने तो बहुत बड़ी भूल कर दी। वह पश्चात्ताप करता है और वापिस संन्यास को स्वीकार कर लेता है। भोग की चेतना अकल्याणकारी होती है, बीच में व्यवधान पैदा करने वाली होती है। अध्यात्म की चेतना कल्याणकारी होती है। साधक को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों से जैसे पाप लगता है, वैसे ही कर्मेन्द्रियों के द्वारा भी आदमी पाप में चला जाता है। आदमी के मन में ज्यों-ज्यों विरक्ति बढ़ेगी, विराग बढ़ेगा, त्यों-त्यों वह भोगों से मुक्त होता जाएगा। गीताकार ने कहा —

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।५/२१।।

बाहर के विषयों में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला साधक आत्मा में स्थित ध्यानजनित सात्विक आनंद को प्राप्त होता है। फिर वह परब्रह्म परमात्मा के ध्यानरूप योग में अभिन्न भाव से स्थित पुरुष अक्षय आनन्द का अनुभव करता है।

प्रायः हर साल घुड़सवारी की दौड़-प्रतियोगिता होती थी। उसमें कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता था। राजा की रानी इसमें माहिर थी। हर बार रानी ही विजित बनती भी। अन्य प्रतियोगियों ने सोचा, रानी को कैसे हराया जाए? जानकारी करने पर पता चला कि रानी सोने की शौकीन है। एक किलोमीटर तक घुड़सवारी करनी थी। अन्य प्रतियोगियों ने रास्ते में सोने की ईंटें रख दीं। घुड़सवारी शुरू हुई। रानी ईंटें देखने में लग गई। युवक आगे बढ़ गए। रानी हार गई, क्योंकि वह स्वर्ण में आसक्त हो गई। आसक्ति पतन का कारण है। मरने के बाद भी आसक्त व्यक्ति की दुर्गति होती है।

बाह्य विषयों में अगर आदमी की आसक्ति छूट जाए तो फिर उसे आत्मा में सुख मिल सकता है। पदार्थों के सुख से जब आदमी विमुख हो जाता है, तब उसे भीतर का सुख मिलने लगता है। दो सुख हैं – एक बाहर का सुख और एक भीतर का सुख। एक भोगजन्य सुख और एक योगजन्य सुख। अगर बाहर के सुखों में आदमी रचा-पचा रहेगा तो फिर भीतर का सुख नहीं मिलेगा। दोनों में मानो परस्पर वैर है। बाह्य स्पर्श या बाह्य विषयों से जब आदमी अनासक्त हो जाएगा और आत्मा की ओर सम्मुख हो जाएगा, तब उसे ऐसा अक्षय सुख मिल जाएगा, जो कभी क्षीण नहीं होगा।

आत्मा में रमण करने वाला व्यक्ति सुखों को पैदा करने वाला होता है। वह सुख अनंत होता है, अखण्ड होता है। आदमी का भोग से योग की ओर प्रस्थान हो। बाहर से भीतर की ओर प्रस्थान हो। जब आदमी भीतर आ जाता है, तब गीता की भाषा में वह अक्षय सुख-सम्पन्न बन जाता है।

१३

सदा-मुक्त बनो

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में ध्यान आदि के प्रयोग किए जाते हैं। कुछ लोग शरीर को स्वस्थ रखने के लिए योगाभ्यास करते हैं। कुछ लोग चिकित्सा के क्षेत्र में भी योग आदि का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग तनाव मुक्त रहने के लिए योग-ध्यान आदि का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग आत्माराधना की दृष्टि से, भाव शुद्धि की दृष्टि से ध्यान आदि का प्रयोग करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ध्यान-साधना के प्रयोग निर्दिष्ट हैं। वहां कहा गया है —

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।५/२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।५/२८।।

बाहर के विषय-भोगों का चिन्तन न करता हुआ,नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपानवायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियां, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है।

साधक साधना करते-करते सदा के लिए मुक्त बन जाता है। गीता में सदा-मुक्त बनने की प्रक्रिया बताते हुए कहा गया — तुम इन्द्रिय-विषयों से अपने आपको अलग कर लो। न सुनने में मन लगाओ, न देखने में, न सूंघने में, न चखने में और न छूने में मन लगाओ। दोनों भृकुटि के बीच में यानी दर्शन-केन्द्र पर दृष्टि को केन्द्रित करो और नासिका के भीतर जो श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया हो रही है, उसे सम करो, प्राण और अपान को शुभ करो, श्वास को लयबद्ध करो। एक लय से श्वास आता रहे, जाता रहे। बौद्ध साधना पद्धति में इसे आनापान कहा जाता है।

एक साधु के लिए तो इन्द्रिय-संयम आवश्यक है ही, एक सीमा तक पदस्थ गृहस्थ व्यक्ति के लिए भी आवश्यक है। एक राजा अथवा मंत्री भोग-विलासी है, आराम से रहता है, इन्द्रिय-संयम से रहित है, वह अपने कर्त्तव्य का सम्यक् पालन कैसे कर सकेगा? वह जनता की क्या और कितनी सेवा कर पाएगा? मात्र पदस्थ व्यक्तियों के लिए ही नहीं, एक सामान्य गृहस्थ के लिए भी इन्द्रिय-संयम अपेक्षित है। संसार में भोग चलता है, किन्तु निरंकुश भोग नहीं होना चाहिए। भोग पर भी अंकुश रहना चाहिए। इसी बात को पुष्ट करते हुए 'शिक्षा सुधा' में कहा गया है –

भोगेन सह योगः स्याद्, गृहस्थस्यापि जीवने।
केवलेन तु भोगेन, गार्हस्थ्यं दुःखितं भवेत्।।

गृहस्थ के जीवन में भोग के साथ योग की भी साधना होनी चाहिए। केवल भोग से गृहस्थ का जीवन दुःखमय बन जाता है। जैन श्रावकाचार में कहा गया है कि एक श्रावक अथवा व्रती गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की सभी महिलाओं को मां, बहिन और बेटी की भावना से देखे। एक महिला के लिए अपेक्षित है कि वह अपने पति के सिवाय संसार के सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की दृष्टि से देखे। यह एक सीमा है। जहां इस सीमा का उल्लंघन होता है, अतिक्रमण होता है, वहां समस्या उत्पन्न हो जाती है। एक युवक का आकर्षण अपनी पत्नी के प्रति न हो और अन्य स्त्री के प्रति हो तो परिवार में समस्या पैदा हो जाती है। आपसी संबंधों में कठिनाई पैदा हो जाती है और तलाक जैसी स्थितियां बन जाती हैं। एक संन्यासी के लिए आवश्यक है कि वह पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करे, इन्द्रिय-संयम की साधना करे। एक गृहस्थ के लिए अपेक्षा है कि वह एक सीमा को बनाए रखे। उस सीमा को पार न करे।

इस प्रकार साधना करने से इन्द्रियों और मन का संयम हो जाएगा। इन्द्रिय और मन का संयम करने से साधक की इच्छाएं कम हो जाएंगी अथवा समाप्त हो जाएंगी। फिर भय की स्थिति नहीं रहेगी, अभय का भाव पुष्ट हो जाएगा। उसका क्रोध शांत हो जाएगा। जिस आदमी में भय नहीं है, इच्छा, लालसा या कामना नहीं है, गुस्सा नहीं है, इन्द्रियों और मन का संयम है, वह साधक सदा- मुक्त कहलाने का अधिकारी बन जाता है। वह शरीरधारी है तो भी मुक्त है और शरीर से मुक्त होने के बाद तो मुक्त होता ही है।

गीताकार ने कहा कि बुद्धि का भी संयम हो। हमारी बुद्धि गलत कार्यों में न लगे। यदि बुद्धि का संयम नहीं है तो पता नहीं वह किन-किन अकरणीय कार्यों में प्रवृत्त हो जाएगी, इसलिए मन का संयम आवश्यक है तो बुद्धि का संयम भी आवश्यक है। हमारी बुद्धि अच्छे कार्यों में प्रवृत्त हो। बुद्धि से विद्या प्राप्त होती है। उसका भी दुरुपयोग किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया – **विद्या विवादाय।** एक दुर्जन आदमी, जिसका बुद्धि और मन पर संयम नहीं है और वह कषायों से भी परास्त है, उसके पास यदि विद्या का बल हो तो वह विद्या से विवाद करेगा। विद्या अपने आप में अच्छी चीज है, पर विद्या का उपयोग आदमी कहां करता है, यह ध्यान देने की बात है। एक वकील के पास दिमागी शक्ति होती है। वह कितने तर्क उपस्थित कर सकता है। ज्ञान होता है और तार्किक शक्ति तीक्ष्ण होती है तो आसानी से तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। कई बार गलत बात को सिद्ध करने के लिए भी तर्क काम में लिए जा सकते हैं। हालांकि हर जगह तर्क नहीं करना चाहिए। फिर भी तार्किक वृत्ति अपने आप में अच्छी है। ज्ञान अर्जन करने में आदमी को तार्किक बुद्धि वाला होना चाहिए। जितनी हमारी तर्क शक्ति तीक्ष्ण होगी, हम ज्ञान को गहराई से ग्रहण कर पाएंगे। हमें गलत कार्यों में बुद्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

हमारा मन कई बार हमें परेशान कर देता है, पर आदमी को अपने मन पर इतना नियंत्रण रखना चाहिए कि वह हमारा समाधान बन जाए।

जो व्यक्ति अतीत की स्मृति नहीं करता, भविष्य की कल्पनाओं में नहीं उलझता, वर्तमान में जीना जानता है, वह जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वर्तमानजीवी बनना बहुत बड़ी साधना है। वे ही व्यक्ति वर्तमान में जी सकते हैं, जिनका चित्त निर्मल हो और जिनकी मानसिक एकाग्रता पुष्ट हो। अधिकांश व्यक्ति वर्तमान में जीना जानते ही नहीं हैं। वे विचारों की उधेड़बुन में खोए रहते हैं। खाते समय विचार, उठते समय विचार, बैठते समय विचार, चलते समय विचार, यहां तक कि शौच के समय भी व्यक्ति निर्विचार नहीं रह पाता है। नींद में भी विचारों का प्रवाह चालू रहता है। दो क्षण आंख मूंदकर व्यक्ति अपने भीतर झांके तो उसे अपने मन-मस्तिष्क में विचारों की तरंगें उठती-सी प्रतीत होंगी।

आदमी इन्द्रिय का संयम करे, मन का संयम करे, बुद्धि का संयम करे,

इच्छा, भय और क्रोध का परित्याग करे, फिर आदमी सदा-मुक्त हो जाएगा। हालांकि सब मनुष्यों के लिए तो संभव नहीं है कि वे सदा-मुक्त की स्थिति को प्राप्त कर सकें, परन्तु कुछ कदम भी हम इस दिशा में आगे बढ़ाते हैं तो लाभ ही है। सदा-मुक्त न बन सकें तो कदा-मुक्त तो बनें, किंचित् मुक्त तो बनें। अगर किंचित् मुक्त भी हो गए तो लाभ का ही सौदा है।

उत्तराध्ययन में भी इन्द्रिय-संयम और मन-संयम का स्पष्ट निर्देश मिलता है। हम गीता व उत्तराध्ययन के द्वारा कुछ ऐसी प्रेरणा प्राप्त करें, जिससे इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियंत्रण करने में सफल हो सकें।

१४

भ्रम-मुक्त बनो

धार्मिक जगत् में संन्यास और योग शब्द काफी प्रसिद्ध है। जो संसार से विमुख और मोक्षाभिमुख होकर साधना करता है, साधना के लिए जीवनपर्यन्त कृत संकल्प हो जाता है, उसे सामान्यतया महात्मा, संन्यासी, योगी कहा जाता है। महात्मा की साधना के अनेक अंग हैं, परन्तु दो बातों का त्याग तो उसमें होना ही चाहिए। एक तो स्त्री की मूर्च्छा और दूसरा पैसे की मूर्च्छा। साधु को कंचन और कामिनी का त्यागी तो होना ही चाहिए। संस्कृत वाङ्मय में कहा गया –

वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यनासक्तः, साक्षात् भर्गो नराकृतिः।।

विधाता ने दो भ्रम पैदा किये हैं। एक तो स्त्री में आदमी भ्रमित होता है और दूसरा पैसे में भ्रमित होता है। इन दो भ्रमों से जो मुक्त हो जाता है, वह व्यक्ति साधु, संन्यासी, त्यागी या परमात्मा का रूप होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव!।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।६/२।।

हे अर्जुन! जिसको संन्यास कहते हैं, उसी को तुम योग जानो, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

संन्यास आ गया तो समझना चाहिए कि योग जीवन में आ गया। संकल्प-विकल्पों के परित्याग के बिना, संन्यास के बिना कोई व्यक्ति योगी नहीं बन सकता। संन्यास शब्द के मैं दो अर्थ करना चाहूंगा। संस्कृत भाषा के ज्ञाता जान सकते हैं कि असुच्-क्षेपणे यानी असुच् धातु फेंकने के अर्थ में

आती है। पहला अर्थ यह है कि जिसने मोह-माया को फेंक दिया अर्थात् त्याग दिया, वह व्यक्ति संन्यासी होता है। दूसरा अर्थ यह है कि सम् और नि उपसर्गपूर्वक असुच् धातु का प्रयोग किया जाता है, उसका मतलब है स्थापित करना अर्थात् जिसने अपने आपको सम्यक्त्व या आत्म-साधना के मार्ग में स्थापित कर दिया है, वह संन्यासी होता है। एक अर्थ त्यागपरक है तो दूसरा अर्थ स्थापन के अर्थ में है। वेश पहनने मात्र से भले कोई योगी बन जाए, महात्मा बन जाए, किन्तु अर्न्तमन से वह व्यक्ति तब तक योगी नहीं बन सकता, जब तक वह आत्म-साधना में अपने आपको स्थापित नहीं कर लेता है। वेश तो मात्र पहचान के लिए है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया कि **समयाए समणो होइ** अर्थात् समता की साधना करने से श्रमण बनता है। वेश धारण करने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। वेश तो मात्र ऊपरी बात है। साधु का वेश तो कभी-कभी बहुरूपिया भी धारण कर सकता है। होली के दिनों में जब घिन्नड़ का कार्यक्रम होता है, तब कोई-कोई आदमी उसमें भी साधु का वेश बनाकर आ जाता है, किन्तु वेश धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं बन जाता। हालांकि वेश पहनने से भी चेतना में कुछ अन्तर तो आ सकता है।

एक बहुरूपिया साधु के वेश में एक घर में गया। लोगों ने सोचा — अच्छा रूप बनाकर आया है। इसको कुछ पैसा देना चाहिए। जब लोग उसे पैसे देने लगे, तब उसने कहा — नहीं-नहीं, मैं पैसा नहीं ले सकता। मैं अभी साधु हूं। साधु होकर पैसा कैसे ले सकता हूं? मैं जब तक साधु के वेश में हूं, तब तक पैसा नहीं लूंगा। मैं इस वेश को लज्जित नहीं करूंगा। एक बहुरूपिये में भी इतनी चेतना तो जागी कि साधु के वेश में मुझे पैसे नहीं लेने चाहिए। खैर, वेश का भी अपना महत्त्व है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है कि हमारा क्लेश कम हुआ या नहीं?

श्रीकृष्ण ने कहा कि जब तक संकल्पों का त्याग नहीं होता है, भीतर के राग-द्वेषात्मक विकल्पों का त्याग नहीं होता है, आदमी मोह-माया में लगा रहता है, तब तक वह योगी नहीं कहलाता। इसमें मेरा विचार यह है कि जिसने संन्यासी का वेश ले लिया और मात्र ऊपर से ही भोगों का त्याग किया है, फिर भी उसको कुछ तो लाभ मिलेगा। उसके अकाम निर्जरा तो होगी। अकाम निर्जरा से भी देवगति प्राप्त हो सकती है। यह मेरा अपना विचार है कि उसकी थोड़ी-सी साधना भी बेकार नहीं जाएगी, फलवान अवश्य बनेगी। यद्यपि उसने पूरी साधना नहीं की, फिर भी उसके भीतर साधना का बीज वपन हो गया।

उसके आगे जो जन्म होंगे, उसमें फिर उसके भीतर संस्कार जाग सकेंगे, फिर उसके मन में कुछ साधना की भावना आ सकेगी। जितना त्याग किया जाता है, उतना लाभ मिलता है। जो आदमी राग-द्वेषात्मक संकल्पों-विकल्पों का त्याग करता है, उसका जीवन सफल और सार्थक हो जाता है। उसकी आत्मा का कल्याण हो जाता है।

आत्मा अनन्त काल से संसार में है। वह कभी अच्छे भावयुक्त बन जाती है और कभी मलिन भावयुक्त बन जाती है। ज्यों-ज्यों अच्छे भावों का विकास होता है, आत्मा पवित्र बन जाती है और कभी-कभी तो अच्छे भाव इतने आ जाते हैं कि आत्मा साधुत्व की भूमिका में अवस्थित होने के योग्य बन जाती है। एक जन्म की साधना से ही व्यक्ति सिद्ध बन जाए, ऐसा सबके लिए संभव नहीं है। अनेक जन्मों की साधना के बाद कैवल्यप्राप्ति की स्थिति बनती है। भगवान् महावीर के प्रसंगों को देखें, वे एक ही जन्म की साधना से सिद्ध हो गए थे, ऐसा नहीं है। पिछले जन्मों में भी उन्होंने साधना की और साधना करते-करते एक स्थिति ऐसी आयी कि वे केवलज्ञानी बन गए और बाद में सिद्ध भी बन गए। कोई साधु बहुत उच्च कोटि का होता है और किसी साधु की साधना बहुत सामान्य होती है। ऐसा अनुमान लगा सकते हैं कि जिस साधु की साधना बहुत अच्छी है, उसने पिछले जन्म में भी साधना की होगी। जिसकी साधना अभी सामान्य स्तर की है इसका मतलब पिछले जन्म में उसने साधना नहीं की होगी, प्रारम्भ की अवस्था रही होगी। निष्कर्ष यह निकलता है कि अनेक जन्मों की साधना से व्यक्ति को सिद्धत्व की स्थिति प्राप्त होती है।

१५

मन को साधो

हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग है मन। मन के द्वारा हम विचार करते हैं, मन में इच्छाएं पैदा होती हैं, मन से स्मृति, कल्पना की जाती है, मन से हम कभी दुःखी बन जाते हैं और कभी सुखी बन जाते हैं, मन कभी प्रफुल्लित हो जाता है तो कभी निराश हो जाता है। एक दिन में हमारे मन के अनेक रूप सामने आ जाते हैं? कोई लेखा-जोखा करने वाला हो तो अनेक रूपों का समाकलन किया जा सकता है। आयारो में ठीक कहा गया – **अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे** अर्थात् यह पुरुष अनेक चित्तों वाला होता है। कभी कोई भाव उभरता है तो कभी कोई भाव प्रकट होता है। विभिन्न भाव आते रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मन के बारे में अर्जुन और श्रीकृष्ण के बीच सुन्दर संवाद हुआ है। अर्जुन कहते हैं –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।६/३४।।

हे प्रभो! यह मन बड़ा चंचल है, बड़ा हठी है, बड़ा बलवान है और बड़ा मजबूत है। इसका निग्रह करना उतना ही मुश्किल है, जितना मुश्किल हवा को वश में करना होता है।

हवा को रोकना किसी के हाथ की बात नहीं है। हां, हवा को गुब्बारे में भरकर तो फिर भी कोई रोक सकता है, किन्तु चलती हुई हवा को रोकना कोई आसान काम नहीं है। जैसे हवा को रोकना कठिन काम है, वैसे ही मन को रोकना भी कठिन काम है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की बात सुनी। उन्हें लगा कि अर्जुन के द्वारा उक्त बात सही है, पर इसके मन में व्यर्थ निराशा नहीं आनी चाहिए। इससे आगे भी कुछ यथार्थ है, उसका भी साक्षात्कार इसे कराना चाहिए। श्रीकृष्ण ने अर्जुन की बात को मान्य करते हुए कहा –

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।।६/३५।।

हे अर्जुन! निःसंदेह मन चंचल है। इसको वश में करना कठिन भी है, परन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है।

मन की चंचलता का हम अनुभव कर सकते हैं। हम चलते हैं, चलते समय हमारे दिमाग में कितने विचार आ जाते हैं? हम भोजन करते हैं। उस दौरान भी एक ओर तो हम कवल ले रहे हैं, दूसरी ओर हमारे दिमाग में विचार आते रहते हैं। हम रात को सोते हैं, उस समय भी मन में कोई विचार आ जाता है। विचारों का एक चक्र-सा चलता रहता है। एक के बाद एक विचार हमारे मन में आते रहते हैं। कभी-कभी विचारों में कुछ शृंखलाबद्धता भी होती है। एक विचार से जुड़ा हुआ दूसरा विचार, तीसरा विचार क्रमशः आता रहता है। विचार के साथ अतीत की घटनाएं भी हमें याद आ जाती हैं। ज्यादातर निकट अतीत के विचार हमारे मन में आते हैं। कुछ समय पहले जो कुछ देखा, जो बात हुई, उससे जुड़े हुए विचार हमारे दिमाग में आते जाते हैं। खैर, अतीत के हो या निकट अतीत के हो या भविष्य के बारे में कोई कल्पना हो, विचार हमारे मन में आते रहते हैं, यह एक सत्य है। हम जप आदि का प्रयोग करते हैं, उपासना करते हैं, तब भी हमारे मन में विचार आ जाते हैं। हमारा मन चंचल अवश्य है, किन्तु मन की चंचलता को कम किया जा सकता है, मन के पार भी जाया जा सकता है, मन से अतीत भी हुआ जा सकता है। मन को बड़ा बलवान् कहा गया है। सचमुच, मन इतना बलवान् है कि आदमी को कई बार कमजोर कर देता है यानी मन कमजोर होते ही आदमी कमजोर हो जाता है। एक आदमी हर स्थिति में चट्टान की तरह मजबूत और निर्भयी रहता है और एक आदमी थोड़ी-सी कठिनाई आते ही कमजोर हो जाता है। यह सब मन का खेल है।

ऐसा ही प्रसंग हमें उत्तराध्ययन सूत्र में उपलब्ध होता है। वहां कुमारश्रमण केशी और गणधर गौतम के बीच अनेक विषयों पर रोचक संवाद हुए हैं। कुमारश्रमण केशी ने कहा –

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम! आरूढो, कहं तेण न हीरसि?।।२३/५५।।

यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है। गौतम! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता? तब गणधर गौतम ने कहा –

पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई।।२३/५६।।

मैंने इसे श्रुत की लगाम से बांध लिया है। यह जब उन्मार्ग की ओर दौड़ता है, तब मैं इस पर रोक लगा देता हूं, इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नहीं जाता, मार्ग में ही चलता है।

यह अश्व और कोई नहीं, मन ही है। इस मन की लगाम व्यक्ति के हाथ में होती है तो वह उत्पथ में नहीं जा सकता। वह लगाम है ज्ञान की, श्रुत की। एक समाधान मिल गया कि श्रुत के द्वारा मन को नियंत्रित किया जा सकता है। अनेक लोग श्रुत की आराधना करते हैं। ऐसे पवित्र आध्यात्मिक ज्ञान का स्वाध्याय करने वाले और मनन करने वाले इस मन रूपी दुष्ट अश्व की लगाम अपने हाथ में ले लेते हैं। फिर यह दुष्ट अश्व कुलीन अश्व बन जाता है।

घोड़े कई तरह के होते हैं। कई उत्पथ की ओर ले जाने वाले हो सकते हैं तो कई सत्पथ की ओर ले जाने वाले भी होते हैं। घोड़े की सवारी करने वाला व्यक्ति पहले यह देखे कि घोड़ा कैसा है? यदि दुष्ट है तो उसको सहला करके आत्मीय बना लेना चाहिए ताकि फिर वह घोड़ा कभी गलत पथ में न ले जाए। घोड़े की लगाम भी व्यक्ति के हाथ में रहनी चाहिए। बिना लगाम का घोड़ा हो अथवा दुष्ट घोड़ा हो तो उसका क्या भरोसा वह कहां ले जाए? हमारा यह मन रूपी घोड़ा ज्ञान की लगाम से बंधा हुआ हो तो वह बड़ा उपयोगी बन जाता है और दूरी को कम करने वाला होता है। इस मन के द्वारा सुन्दर चिन्तन, सुन्दर विचार किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया – **शिवसंकल्पमस्तु मे मनः** अर्थात् मेरा मन पवित्र संकल्पों वाला, पवित्र विचारों वाला बने। वह पवित्र तब बन सकता है, जब मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम से बांध लिया जाए और लगाम सवार के हाथ में रहे।

गीता में भी एक समस्या प्रस्तुत की गई और उत्तराध्ययन में भी एक समस्या प्रस्तुत की गई। समस्या प्रस्तुत करना आसान होता है, किन्तु उसका समाधान देना कुछ कठिन होता है। यह बड़ा संतोष का विषय है कि दोनों ग्रन्थों में समाधान भी दिए गए हैं। यह सचाई है कि अगर समस्या है तो कोई उसका समाधान भी होगा। आदमी यह सोचे कि किस समस्या का क्या समाधान हो सकता है? मन की जो समस्या है, वह एक, दो व्यक्तियों की नहीं, बड़ी व्यापक समस्या है। यह ऐसी समस्या है, जिसके साथ इतने घुल-

मिल गए हैं कि सामान्य रूप में तो वह समस्या लगती ही नहीं है। हमारा चलना, खाना, पीना भी चलता है और साथ में मन का विचार भी चलता रहता है। दोनों साथ-साथ मानो मित्र की भांति चलते हैं। हमें समस्या का अनुभव तब होता है, जब मन में दुःख होता है, कष्ट होता है, हमारे मन के प्रतिकूल कोई स्थिति बन जाती है। मन की वह स्थिति हमारे लिए बड़ी अप्रिय होती है और उससे आदमी छुटकारा भी पाना चाहता है। यह समस्या केवल गृहस्थों की नहीं, साधकों के सामने भी आ जाती है, उनका भी मन चंचल, चलित हो जाता है। और तो क्या, मन इतना चलित हो जाता है कि साधक साधना के पथ को छोड़ने की बात भी सोच लेता है। मोहकर्म का ऐसा वेग आता है कि अनेक साधु साधना पथ से विचलित हो जाते हैं और साधना को छोड़कर गार्हस्थ्य में चले जाते हैं। यह स्थिति तब बनती है, जब मन कमजोर और विचलित हो जाता है। मन की चंचलता का सर्जक है मोहकर्म। मोहकर्म के कारण चंचलता उत्पन्न होती है और संकल्प-विकल्प आते हैं। इसका समाधान है ज्ञान रूपी लगाम। ज्ञान के द्वारा आदमी को कोई उपाय मिल जाता है और वह परिपक्व साधना वाला बन जाता है, स्वीकृत साधना के प्रति पुष्ट आस्था वाला बन जाता है। अपेक्षा है कि साधक मन की लगाम को अपने हाथ में रखे।

१६

साधना-संपन्न बनो

अनेक व्यक्ति साधना के क्षेत्र में अनुप्रवेश करते हैं। वे साधना प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु सबकी साधना सिद्धि तक पहुंच जाए, ऐसा नहीं होता। कुछ मनुष्यों की साधना सिद्धि तक पहुंच जाती है और कुछ मनुष्य बीच में ही रह जाते हैं। उनका मन साधना से विचलित हो जाता है। साधना का पथ ऐसा ही है, मन रम जाए तो सुख ही सुख है और मन न रमे तो दुःख भी हो सकता है। जैन वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण आगम दसवेआलियं की प्रथम चूलिका में बताया गया है कि श्रामण्य कैसा है?

देवलोगसमाणो उ, परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं तु, महानिरयसारिसो।।१०।।

संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते, उनके लिए वही मुनि-पर्याय महानरक के समान दुःखद होता है।

जो साधना में रत हो गए हैं, आत्मरमण करने लग गए हैं, उनके लिए यह श्रामण्य का पर्याय देवलोक तुल्य होता है। जिनका मन साधना में नहीं लगता, जो बहिर्मुखी हैं, ऐसे व्यक्ति साधना के क्षेत्र में आ तो जाते हैं, किन्तु साधना के अनुरूप अपने आपको ढाल नहीं पाते। उनकी इच्छा बाह्य पदार्थों की तरफ होती है। वे पदार्थ जब उन्हें भोगने के लिए नहीं मिलते हैं, तब वे तथाकथित साधक दुःखी बन जाते हैं। फिर उनके लिए वह श्रामण्य-पर्याय नरक के समान ही नहीं बल्कि महानरक के समान दुःखद बन जाता है। इस चूलिका में साधना पूरी न कर सकने वालों के संदर्भ में एक सुन्दर प्रकरण आया है। श्रीमद्भगवद्गीता पुनर्जन्म में विश्वास करती है और जैनदर्शन भी पुनर्जन्म में विश्वास करता है। पुनर्जन्म को जो मानने वाले दर्शन हैं, उनमें कई बातों का

साम्य भी मिलता है। गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से प्रश्न किया –

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति ।।६/३७।।

हे प्रभो! जो योग में श्रद्धा रखने वाला है, किन्तु संयमी नहीं है। इस कारण जिसका मन अंतकाल में योग से विचलित हो गया है, ऐसा साधक योग की सिद्धि को अर्थात् भगवद् साक्षात्कार को प्राप्त न होकर किस गति को प्राप्त होता है?

जिस आदमी में कुछ श्रद्धा का भाव है, संयम और आत्मा के प्रति कुछ आकर्षण भी है, परन्तु मन पर नियंत्रण नहीं कर पा रहा है, इसलिए उसका संयम प्रायोगिक रूप में सध नहीं रहा है। ऐसा व्यक्ति संन्यासी तो बन जाता है, किन्तु योगसाधना से उसका मन विचलित हो जाता है। उसे योग सिद्धि नहीं मिलती है। वह योगसिद्धि को प्राप्त किए बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में अर्जुन पूछते हैं कि भगवान् वह व्यक्ति मरकर कौनसी गति में जाएगा? तब श्रीकृष्ण कहते हैं –

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।।६/४१।।

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोकों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षों तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

जिसका मन योग से चलित हो गया, जिसने योग को बीच में छोड़ दिया, वह योगभ्रष्ट व्यक्ति मरकर स्वर्ग में जाता है। अगर योग-साधना परिपूर्ण कर लेता, तब तो मुक्ति को प्राप्त हो जाता। जो योग-साधना से विचलित हो गया, उसने कुछ तो साधना की है, कुछ पुण्य अर्जित किया है, इसलिए जो पुण्यवान् व्यक्तियों का लोक है अर्थात् स्वर्गलोक में जाकर वह पैदा होता है। वहां भोग भोगता है। वहां का लम्बा जीवनकाल पूरा करके फिर वह मनुष्यलोक में धनवान लोगों के घरों में पैदा होता है। दूसरा विकल्प बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं –

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।।६/४२।।

जो व्यक्ति संन्यास ले लेते हैं, परन्तु पूरी साधना नहीं कर सकते, वे मरकर वापस योगियों के कुलों में पैदा होते हैं ताकि पुनः उनको योग साधना का मौका मिल सके। यद्यपि वहां पैदा होना बड़ा दुर्लभतर होता है, पर उन मनुष्यों को वहां जन्म लेने का मौका मिल जाता है।

योगभ्रष्ट शब्द के भी दो विकल्प हो सकते हैं। एक वह व्यक्ति, जो योग-साधना करते-करते विचलित मन वाला हो गया और दूसरा वह व्यक्ति, जो चलित मन वाला तो नहीं हुआ, किन्तु उसे साधना करने का मौका ही नहीं मिला, बीच में ही मृत्यु हो गई, इसलिए उसको भी योगभ्रष्ट संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। जैन तत्त्वविद्या की दृष्टि से कुछ साधु ऐसे होते हैं, जो साधना को पूर्ण कर लेते हैं और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। नमस्कार महामंत्र में दूसरा पद है णमो सिद्धाणं। सिद्धाणं का मतलब है, जिनकी योग-साधना सिद्ध हो गई, जो मोक्ष में चले गए, सिद्धि को प्राप्त हो गए। गीता के संदर्भ में सिद्धाणं की तुलना योगसिद्ध व्यक्ति से की जा सकती है। जैन वाङ्मय में भी यह प्रसंग आता है कि अनुत्तर विमान में कुछ ऐसे साधक पैदा होते हैं, जिन्हें अगर कुछ समय और मिल जाता तो वे मोक्ष में चले जाते, किन्तु समय कम मिला, जल्दी मृत्यु हो गई, इसलिए वे मोक्ष में नहीं जा सके और लम्बे काल तक उन्हें स्वर्ग में रहना पड़ा। गीता की व्याख्या में जो दो परिभाषाएं दी गई हैं, उस दृष्टि से उनकी योग-साधना पूरी नहीं हुई, उससे पहले ही उनका देहावसान हो गया। गीता और जैनदर्शन में इन बातों में कुछ समानता प्रतीत हो रही है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस आदमी के मन में साधना के प्रति निष्ठा है और जो साधना के पथ पर अग्रसर हो जाता है, उसके भीतर एक बीज पैदा हो जाता है। वह बीज कभी नष्ट नहीं होता, हमेशा बना रहता है। कभी भविष्य में, अगले जन्मों में वापस उसे साधना का मौका मिलेगा और वह साधना करके सिद्धि को प्राप्त कर सकेगा।

गीता के योगभ्रष्ट शब्द की तुलना में एक उदाहरण मैं जैन वाङ्मय के आधार पर और देना चाहूंगा। भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में गोशालक का प्रकरण आता है। मैं गोशालक को एक योगभ्रष्ट साधक के रूप में देखता हूं, चूंकि उसकी योग-साधना बीच में ही खण्डित हो गई थी। वह वर्षों तक भगवान् महावीर के साथ रहा। फिर भगवान् से अलग हो गया। इतना ही नहीं,

उसने भगवान् महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। अन्त में उसने बहुत आत्मालोचना की और स्वर्गलोक में उत्पन्न हुआ। यद्यपि बाद में वह एक-एक नरक में भी अनेक बार पैदा होगा, क्योंकि पाप कर्मों का योग उसके साथ है। फिर भी साधना का बीज उसके भीतर उत्पन्न हो गया था, इसलिए उसे मोक्ष में जाने का भी मौका अवश्य मिलेगा। अध्यात्म का जो बीज एक बार उप्त हो गया, वह कभी न कभी अवश्य फलेगा, यह निश्चित बात है। जिस आदमी के मन में योग-साधना की अभिरुचि हो गई, साधना शुरू कर दी, भले वह साधना पूरी न कर पाए, पर उसको भविष्य में योग-साधना करने का अवसर निश्चित मिलेगा, इसमें कोई शंका की बात नहीं है। यह अलग बात है कि उसे अवसर देरी से मिले या जल्दी मिले, किन्तु साधना का मौका निश्चित मिलेगा और वह आत्मा केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगी।

योग-साधना का प्राथमिक स्थान है सम्यक् दर्शन की प्राप्ति। जिसने एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो समझना चाहिए कि योग-साधना में उसका प्रवेश हो गया, योग-साधना का स्पर्श हो गया। एक बार स्पर्श होने का मतलब है, एक निश्चित काल के भीतर-भीतर उसका मोक्ष में जाना अनिवार्य है। इस प्रकार योगभ्रष्ट साधक भी कभी न कभी अपनी योग-साधना को पूरा कर लेते हैं, साधना-संपन्न बन जाते हैं और संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।

१७

योग-संपन्न बनो

व्याकरण शास्त्र में दो प्रत्यय आते हैं, तर और तम। दो में से किसी एक को अच्छा बताना हो तो तरप्रत्यय का और अनेकों में से किसी एक को श्रेष्ठ बताना हो तो तमप्रत्यय का प्रयोग किया जाता है, जैसे – शुभ, शुभतर, शुभतम अथवा पटु, पटुतर, पटुतम। जब तुलना की जाती है कि उनसे यह अच्छा है, तब ऐसे प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है कि योगी सबसे श्रेष्ठ होता है। अनेक प्रकार के व्यक्तियों से उसकी तुलना की गई। श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोध देते हुए कहते हैं –

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन!।।६/४६।।

योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियों से भी उसे श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

संसार में तपस्वी लोग बहुत हैं। अनेक लोग अठाइयां करते हैं, मासखमण करते हैं, उससे भी ज्यादा दिनों की तपस्या करते हैं। हमारे साधु-साध्वियां स्वयं तपस्या करते हैं और लोगों को भी तपस्या के लिए उत्प्रेरित करते हैं। अनेक भाई-बहन वर्षीतप की आराधना करते हैं। एक-एक आदमी अनेक वर्षीतप कर लेता है, अनेक दिनों की तपस्या कर लेता है, किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा – तपस्वियों से भी ज्यादा श्रेष्ठ योगीपुरुष होता है।

दुनिया में ज्ञानी लोग बहुत हैं। अनेक लोग डिग्री प्राप्त करते हैं। अनेक डॉक्टर हैं, अनेक वकील हैं, अनेक इंजीनियर हैं, अनेक चार्टर्ड अकाउण्टेन्ट हैं यानी विभिन्न डिग्रीधारी लोग हैं। हमारे अनेक साधु-साध्वियां भी डिग्री प्राप्त

हैं कई एम.ए., कई एम.बी.ए. और कई पी.एच.डी. कर चुके हैं। कई आगम स्वाध्याय करने वाले हैं, कई व्याख्यान देने वाले हैं, कई विभिन्न विषयों की कक्षाएं देने वाले हैं, परन्तु श्रीकृष्ण ने कहा – योगी आदमी ज्ञानियों से भी बड़ा होता है। उसके सामने डिग्रियां फीकी पड़ जाती हैं। दुनिया में कर्मशील लोग भी बहुत हैं। कार्य करना, सेवा करना, श्रम करना भी विशेष बात है। शरीर को कुछ कष्ट भी हो सकता है, पर श्रमशील आदमी सुख-दुःख की परवाह किए बिना श्रम करता रहता है।

अनेक लोग निःस्वार्थ भाव से कार्य करते हैं। अनेक लोग जीवनदानी कार्यकर्ता होते हैं। अनेक लोग मात्र सेवाभावना से किसी संस्था को सेवा देते हैं। अनेक लोग दुःखी लोगों की सेवा करते हैं। अनेक लोग बिना वेतन लिए सेवा देते हैं। श्रीकृष्ण ने ऐसे कर्मशील व्यक्तियों से भी योगी को श्रेष्ठ बताया है। उन्होंने कहा – अर्जुन! तुम योगी बन जाओ, क्योंकि तपस्वी बनना अच्छी बात है, ज्ञानी बनना अच्छी बात है, कर्मशील होना अच्छी बात है, किन्तु इन तीनों से ज्यादा अच्छी बात है योगी बन जाना। श्रीकृष्ण के लिए योगीराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। योगी बनना बहुत महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ बात है।

योगी कौन होता है? योगी शब्द की भी कई व्याख्याएं की जा सकती हैं। योग-साधना करने वाला, योग का अभ्यास करने वाला योगी होता है। **युज्यते इति योगी** अर्थात् अपने आपको जोड़ने वाला, समाधि में रहने वाला योगी होता है। गीता के अनुसार सबसे बड़ा योगी वह है, जो समता में रमण करने वाला होता है, समता की साधना करने वाला होता है, समताशील होता है, हर स्थिति में समता रखता है। एक आदमी तपस्वी तो है, परन्तु उसमें राग-द्वेष का भाव आता रहता है, गुस्सा भी आता है, कामना भी ज्यादा है। इसका मतलब तपस्वी होने पर भी वह योगी नहीं है। एक आदमी ज्ञानी है, विद्वान है, विभिन्न विषयों का ज्ञाता है, पर राग-द्वेष का भाव प्रबल है, इसका मतलब ज्ञानी होने पर भी वह योगी नहीं बना। एक कर्मी आदमी कार्य करने में बड़ा निपुण है, सक्षम है, खूब काम कर सकता है, लेकिन उसमें भी धोखावृत्ति हो सकती है, उसमें आवेश भी हो सकता है, इसलिए कर्मी होने पर भी उसे योगी नहीं कहा जा सकता। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संबोध दिया कि अर्जुन! संसार में तपस्वी लोग मिल सकते हैं, ज्ञानी लोग मिल सकते हैं, कर्मी लोग मिल सकते हैं, पर मैं इनको सर्वोत्कृष्ट नहीं मानता। मैं सर्वोत्कृष्ट योगी आदमी को मानता हूं। योगी व्यक्ति सबसे बड़ा होता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा –

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।२/४८ ।।

हे अर्जुन ! तुम योग में स्थित होकर कर्म करो । योग में स्थित होने का मतलब है आसक्ति मुक्त कर्म की अवस्था । योग को एक शब्द में बताना हो तो गीता में कहा गया – समता योग है । तुम समता में स्थित होकर कर्म करो अर्थात् सिद्धि और असिद्धि, सफलता और असफलता, इन दोनों में मानसिक संतुलन बनाए रखने का अभ्यास करो ।

योग शब्द भारतीय वाङ्मय का बड़ा महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध शब्द है। आजकल योग शब्द योगा के रूप में न केवल भारत में, भारत के बाहर भी चलता है । आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि नामक ग्रन्थ में योग शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है – **मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः** अर्थात् मुक्ति का जो साधन है वह योग है। वह तीन प्रकार का है – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र । प्राकृत वाङ्मय में योग शब्द की व्याख्या की गई – **मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो** अर्थात् मोक्ष से आत्मा को जोड़ने वाला जो व्यापार है, प्रवृत्ति है, वह योग है। पातंजलयोगदर्शन में कहा गया – **योगः चित्तवृत्ति निरोधः** अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध करना योग है। अष्टांग योग के माध्यम से योग को बड़े व्यापक सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये योग के आठ अंग पातंजलयोगदर्शन में प्राप्त होते हैं । योग में केवल आसन करना ही नहीं है । आसन तो योग का एक अंग है । गीता में जो योग शब्द का प्रयोग किया गया है और खासकर इस श्लोक में योग शब्द का प्रयोग किया गया है वह समता योग है । वैसे देखा जाए तो अध्यात्म की जितनी भी साधना है और साधना के जितने अंग हैं, वे सभी अंग समता से जुड़े हुए रहते हैं । समता जीवन में आ गई तो मानना चाहिए योग जीवन में सिद्ध हो गया ।

हम उत्तराध्ययन सूत्र पर दृष्टिपात करें, उसमें भी समता का सुन्दर संदेश दिया गया है । वहां कहा गया है –

न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ।।३२/१०१ ।।

कामभोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते । जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण को प्राप्त होता है ।

पांच इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे हमारे मन में समता को पैदा नहीं करते और न ही वे हमारे मन में विकृति को पैदा करते हैं, परन्तु जो व्यक्ति उनमें द्वेष- भाव या राग-भाव करता है, उसकी अपनी वृत्ति के कारण विषमता पैदा होती है, इसलिए आदमी राग-द्वेष मुक्त रहने का अभ्यास करे। राग-द्वेष मुक्ति की साधना ही समता की साधना है।

आर्हत् वाङ्मय में एक जगह कहा गया है – **पुढवि समो मुणि हवेज्जा** अर्थात् साधु को पृथ्वी के समान होना चाहिए। पृथ्वी के समान होने से तात्पर्य है कि पृथ्वी समतामूर्ति होती है। सब कुछ सहने वाली होती है। संस्कृत व्याकरण का एक ग्रन्थ है 'कालु कौमुदी' जो तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों के द्वारा याद भी किया जाता है। मैंने भी उसको कंठस्थ किया था। वहां उदाहरण दिये गए – **सर्वंसहो मुनिः, सर्वंसहा पृथ्वी** अर्थात् मुनि और पृथ्वी सब कुछ सहन करने वाले होते हैं। पृथ्वी पर कितने वाहन दौड़ते हैं, कोई उसे खोदते हैं, कोई थूकते हैं, कोई कुछ करते हैं, किन्तु पृथ्वी समता रखती है। यद्यपि एक बार मैंने यह भी टिप्पणी की थी कि पृथ्वी को सर्वंसहा कहा गया है, परन्तु कभी-कभी उसमें भी कम्पन होता है, जिसे हम भूकम्प कहते हैं। इस कम्पन को उसकी समता की कमी मान सकते हैं। फिर मैंने कहा कि जैसे बच्चा गलतियां करता है तो कई बार मां थप्पड़ भी लगा देती है। पृथ्वी को भी मां कहा गया है। पृथ्वी भी यह सोचती है कि मेरे पुत्र (धरती-पुत्र) अपराध करने लग गए हैं, भ्रष्टाचार करने लग गए हैं, इनके चपत लगानी चाहिए। आदमी के चपत लगाने के प्रतीक के रूप में पृथ्वी में कम्पन होता है, भूकम्प आता है।

सारांश इतना-सा है कि पृथ्वी सहन करने वाली होती है। साधु को भी सब कुछ सहन करने वाला होना चाहिए। कोई उसे गाली दे, कोई पीट दे, कोई अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करे तो भी साधु को गुस्सा नहीं करना चाहिए। एक साधु ही नहीं, गृहस्थ आदमी भी योग-संपन्न बनने का अभ्यास करे, समतावान् बनने का अभ्यास करे, ऐसा करना सबके लिए श्रेयस्कर होगा।

१८

स्वरूप-संपन्न बनो

दुनिया में अरबों लोग जीवन जी रहे हैं। जीवन जीना एक बात है और किसी विशेष उद्देश्य के साथ जीवन जीना अलग बात है। अनेक लोग ऐसे होते हैं, जिनके जीवन का कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नहीं है। वे एक ढर्रेके रूप में जीवन जी रहे हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिनके भीतर अध्यात्म की चेतना उजागर हो जाती है। वे किसी परम उद्देश्य के साथ जीवन जीते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।७/३ ।।

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले योगियों में भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्व से अर्थात् यथार्थ रूप से जानता है।

श्रीकृष्ण ने इस स्थिति को प्रकट किया कि हजारों मनुष्यों में से कोई-कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो सिद्धि के लिए या आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करता है। वर्तमान में भी हजारों मनुष्यों में कोई-कोई व्यक्ति ऐसे मिलेंगे, जो अध्यात्म की साधना के लिए समर्पित होते हैं। जो साधना करते हैं, उनमें भी सब व्यक्ति सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, किसी-किसी व्यक्ति की साधना सिद्धि को प्राप्त होती है। सर्वप्रथम तो यह भावना भी नही जागती कि मैं अध्यात्म की साधना करूं। यदि भावना जाग जाए तो भी इतना प्रयास सब आदमी नहीं कर पाते, जितने प्रयास से परमात्मा का, आत्मा का दर्शन हो जाए अथवा अध्यात्म का कोई विशेष तत्त्व प्राप्त हो जाए। हमारी दुनिया में अरबों मनुष्य हैं, किन्तु सब एक समान नहीं हैं। कोई साधना की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, कोई पीछे हैं, कोई बीच में हैं। कई ऐसे हैं, जो साधना को जानते भी नहीं हैं। गीता के इसी श्लोक से कुछ मिलता-

जुलता श्लोक जैन वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र में प्राप्त होता है। वहां कहा गया है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं।।३/१।।

इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम।

मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ है। चींटी, मकोड़े, सांप, बिच्छु आदि अनेक छोटे-मोटे प्राणी हैं। धार्मिक साहित्य में चौरासी लाख जीवयोनियां बताई गयी हैं। दुनिया में अनंत प्राणी हैं। उनमें से कुछ-कुछ प्राणियों को मनुष्य गति प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता है। जैन वाङ्मय में तो यहां तक कहा गया कि एक प्याज में सूई की नोक जितने हिस्से में भी अनन्त जीव हैं। जब इतने से भाग में अनंत जीव हैं तो पूरे प्याज में कितने जीव होंगे? हालांकि आबादी की समस्या भी है, परन्तु अनन्त-अनन्त जीवों के सामने मनुष्य तो मानो समुद्र की एक बूंद के समान हैं, इसलिए मनुष्य जन्म को दुर्लभ कहा गया। मनुष्य जन्म की दुर्लभता को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है।

एक जन्मान्ध व्यक्ति किसी जंगल में भटक गया, जिसकी परिधि चौरासी मील की थी। वहां उसकी सहायता कौन करे? संयोगवश कोई दूसरा आदमी किसी कार्यवश वहां आया।

प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति—भाई! मुझे इस जंगल से किसी तरह बाहर निकाल दो।

दूसरा व्यक्ति—मैं तो अभी जल्दी में हूं, किन्तु एक काम मैं कर सकता हूं। इस जंगल के चारों तरफ दीवार का एक परकोटा है। उसमें एक द्वार है। मैं तुम्हें दीवार पकड़वा देता हूं। जब द्वार आए तो उससे बाहर निकल जाना।

प्रज्ञाचक्षु व्यक्ति—ठीक है भाई।

सज्जन व्यक्ति ने अंधे आदमी को दीवार पकड़वा दी और स्वयं चला गया। अंधा आदमी दीवार के सहारे आगे बढ़ता जा रहा था। ज्यों ही द्वार बिल्कुल निकट आने वाला था, अचानक उसके सिर में खुजली शुरू हो गई। उसने दीवार से हाथ हटाया और सिर खुजलाने लगा। थोड़ी देर तक सिर खुजलाते चलता रहा। इस दौरान दरवाजा पार हो गया। उसने फिर दीवार को पकड़ा और उसके सहारे चलने लगा। कल्पना करें, कब चौरासी मील पार हो और कब वह बाहर निकले,

इसलिए संत महात्मा कहा करते हैं कि मनुष्य जन्म संसार से निकलने का द्वार है। इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को सार्थक करना चाहिए।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता के बाद धर्म की बात को सुनना भी दुर्लभ माना गया है। अनेक लोग धर्म-कर्म को जानते ही नहीं हैं। उन्होंने कभी धर्म की बात सुनी ही नहीं। धर्म की बात श्रवण करने का मौका भी सौभाग्य से मिलता है। धर्म-श्रवण का मौका मिल भी जाए तो उस पर श्रद्धा का होना और भी मुश्किल है। अनेक लोग धार्मिक बातें सुन तो लेते हैं, किन्तु उन पर श्रद्धा नहीं करते। कदाचित् श्रद्धा हो भी जाए तो संयम में पराक्रम करना, पुरुषार्थ करना और भी मुश्किल होता है यानी साधना करना, योग आदि का अभ्यास करना, नैतिक मूल्यों का जीवन जीना और भी कठिन होता है। कोई व्यक्ति धर्म की बात सुनता है, उसके बाद वह कितने अंशों में जीवन में उतारता है, यह महत्त्वपूर्ण बात है। मात्र सुनने से कितना कल्याण होगा ? धर्म जीवन में आए, हर व्यवहार में संतता झलके, यह विशेष बात है। संत का वेश पहनना एक बात है, वास्तव में संतता की साधना करना विशेष बात है।

अध्यात्म की साधना में राग-द्वेष का त्याग करना आवश्यक होता है। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए और परमात्मा का दर्शन करने के लिए कौन आदमी कितना राग-द्वेष से मुक्त हुआ है, बस यही कसौटी है। आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम ही परमात्मा है। जैनदर्शन ने कहा कि आत्मा साधना के द्वारा परमात्म-पद को प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार सोना प्रारंभिक अवस्था में मिट्टी से मिला-जुला रहता है, किन्तु जब मिट्टी अलग कर दी जाती है, तब सोने में निखार आ जाता है। इसी तरह जो आत्मा कर्मों की मिट्टी से आवृत है, उन कर्मों को तपस्या, साधना के द्वारा दूर कर दिया जाता है, तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है।

राग-द्वेष की तरंगों से जिसका मन तरंगित नहीं होता है, वह व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। अन्य किसी को साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। जिस प्रकार किसी तालाब में पानी भरा हुआ है और कोई आदमी तालाब के भीतरी भाग को देखना चाहे तो उसके लिए दो शर्तेंहैं। पहली शर्त है, तालाब का पानी स्वच्छ होना चाहिए और दूसरी शर्त है, तालाब का पानी स्थिर होना चाहिए। तालाब का पानी बहुत गंदा है और उसमें तरंगें उठ रही हैं तो तालाब का भीतरी भाग नहीं देखा जा सकता। इसी प्रकार जब राग-द्वेष की तरंगें शांत हो जाएंगी और भाव शुद्ध हो जाएंगे, तब आदमी आत्म-साक्षात्कार कर सकेगा और स्वरूप-संपन्न बन सकेगा।

१९

भक्ति-संपन्न बनो

आदमी धर्म की शरण में जाता है, भगवान् की शरण में भी जाता है। जैन वाङ्मय का शरण-सूत्र है—

अरहंते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि,
केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

मैं अर्हतों की शरण स्वीकार करता हूं। मैं सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूं। मैं साधुओं की शरण स्वीकार करता हूं और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूं।

जैन समाज में यह शरण-सूत्र प्रसिद्ध है। अनेक लोग जो एक गांव से दूसरे गांव जाते हैं या विद्यार्थी परीक्षा देने के लिए जाते हैं या कोई विशेष कार्य आरम्भ किया जाता है तो गृहस्थ लोग साधुओं से मंगलपाठ सुनते हैं। जब एक जनवरी को नया वर्ष प्रारंभ होता है, तब अनेक लोग मंगलपाठ या आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए आते हैं। यद्यपि मंगलपाठ तो गृहस्थ लोग भी जानते हैं, फिर भी साधुओं के मुख से, गुरुओं के मुख से सुनना चाहते हैं, क्योंकि जैसे दवा के साथ अनुपान का महत्त्व होता है, वैसे ही साधुओं या गुरुओं के मुख से मंगलपाठ श्रवण का अलग ही महत्त्व होता है। कोई दवा शहद के साथ दी जाती है तो कोई दवा मलाई के साथ दी जाती है, चूंकि अनुपान साथ में होता है। शरण सूत्र भी एक दवा है। साधुओं के मुख से श्रवण करने से अनुपान-सा हो जाता है। उसका महत्त्व बढ़ जाता है, क्योंकि साधु तो स्वयं मंगल होते हैं।

आदमी जीवन में यदा-कदा भगवान् को या अपने इष्ट को विशेष रूप से याद करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में कहा गया है कि चार प्रकार के व्यक्ति भगवान् की भक्ति करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।७/१६ ।।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कार्य करने वाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, ऐसे चार प्रकार के भक्तजन मुझको भजते हैं।

दुनिया में चार प्रकार के मनुष्य भगवान् की भक्ति और भजन करते हैं। धन का अर्थी आदमी भगवान् को याद करता है। अनेक लोग भौतिक संसाधन व धन-प्राप्ति के लिए मंदिर में जाते होंगे, मंत्रपाठ करते होंगे, भगवान् की भक्ति करते होंगे, पूजा-आरती करते होंगे। गृहस्थ को पैसा चाहिए। साधु के पास कौड़ी है तो वह कौड़ी का, गृहस्थ के पास कौड़ी न हो तो गृहस्थ का जीवन भी कौड़ी का हो जाता है। जिस तरीके से पैसा मिल जाए, आदमी वह तरीका काम में लेता है। धर्म का संदेश है कि पैसा पाने के लिए गलत तरीका काम में नहीं लेना चाहिए। अनेक लोग चोरी करते हैं, बेईमानी करते हैं, झूठ बोलते हैं। मात्र पैसा उनका लक्ष्य बन गया। साधन शुद्ध है या अशुद्ध, यह बात गौण हो गई। जो भी साधन पैसा दिला दे, उस साधन को आदमी काम में ले लेता है। कुछ ऐसे लोग भी मिलते हैं, जो अशुद्ध साधनों से बचने का प्रयास करते हैं और साध्य के लिए शुद्ध साधन का उपयोग करते हैं।

आर्त्त व्यक्ति या दुःखी आदमी भगवान् को याद करता है। जब दुःख की घड़ी आती है, तब भगवान्, देवी, देवता सब याद आ जाते हैं और तो क्या, दुःख में मां भी याद आ जाती है। तकलीफ के समय अनेक लोगों के मुख से निकलता है – ओ.....मां.....। मां की करुणा, मां की ममता भी विशिष्ट होती है।

एक युवक था। वह सरकारी नौकरी में अफसर था। अनेक लोग उससे मिलने के लिए उसके घर आते। उस युवक की मां एकाक्षी (काणी) थी। युवक ने सोचा – इतने बड़े-बड़े लोग मेरे पास आते हैं। मेरी मां को भी देखते हैं। एकाक्षी मां अच्छी नहीं लगती। इससे मेरी गरिमा कम होती है। लड़का मां के पास गया और बोला – मां! मैं तुमको अपने साथ नहीं रखूंगा। तुम अलग घर में रहा करो। मां ने कहा – ठीक है पुत्र! तुम जहां रखोगे, वहां रह जाऊंगी। पुत्र ने मां को अलग कर दिया।

पुत्र का फर्ज होता है मां की सेवा करना, किन्तु उसने मां को असहाय छोड़ दिया। मां वृद्धावस्था में थी। दो-चार वर्षों बाद उसका अवसान हो गया। पुत्र ने देहावसान के उपरान्त किए जाने वाले कार्य संपन्न किए। फिर मां का सामान टटोला। उसमें एक लिफाफा मिला। उसमें बेटे के नाम एक संदेश था। मां ने लिखा था – पुत्र! तुम सुख से रहना। मेरे मन में तुम्हारे प्रति वही स्नेह है, जो पहले था। उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। मैं इस बात को जानती हूं कि तुमने मुझे अलग क्यों रखा था। मैं तुम्हें यह बताना चाहती हूं कि मैं एकाक्षी क्यों बनी? मात्र तुम्हारी जानकारी के लिए मैं यह पत्र लिख रही हूं। बेटा! जब तुम छोटे बच्चे थे, तुम्हारी एक आंख खराब हो गई, उसमें रोशनी नहीं रही। मैंने डॉक्टर से कहा – डॉक्टर साहब! आप मेरी एक आंख निकालकर मेरे बच्चे को लगा दीजिए। मैं जीवनपर्यन्त स्वयं एकाक्षी रह सकती हूं, किन्तु अपने बच्चे का कानापन सहन नहीं कर सकती। डॉक्टर ने तुम्हारी खराब आंख निकाली और मेरी एक आंख तुम्हारे लगा दी। बेटा! मैं तब से एकाक्षी बन गई। बेटे ने ज्यों ही यह बात पढ़ी, दुःखी हो गया। अरे! मेरे लिए जिस मां ने अपना इतना बड़ा बलिदान किया, उस मां को मैंने घर से अलग कर दिया, पर अब क्या हो? अब तो वह मात्र पश्चात्ताप ही कर सकता था। मेरे कथन का तात्पर्य है कि बीमारी में मां की भी कभी-कभी याद आती है और भगवान् की भी याद आती है। आदमी को दुःख में भगवान् याद आते हैं। अगर सुख में भगवान् को याद करते रहें तो दुःख पैदा ही क्यों हो? ठीक कहा गया –

दुःख में सुमिरण सब करे, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरण करे तो, दुःख काहे को होय।।

जिज्ञासु व्यक्ति भगवान् की भक्ति करता है। जिसके मन में जिज्ञासा है कि भगवान् का स्वरूप कैसा है? आत्मा का स्वरूप कैसा है? वह व्यक्ति भी भक्ति करता है। आत्मदर्शन करने के लिए या भगवत् स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए साधना करता है।

जिसमें भगवान् के प्रति सच्चा प्रेम जाग गया, आत्मा के प्रति आकर्षण हो गया, वह भी भगवान् की भक्ति करता है। इन चारों को समझाने के लिए एक दृष्टांत दिया गया है। एक पिता के चार बेटे थे। पिता बाजार से चार आम लेकर आया। चारों में जो छोटा लड़का था, उसने ज्यों ही आम को देखा, वह मांगने लगा – पिताजी! आम मुझे दो....आम मुझे दो.....। दूसरे लड़के ने ज्यों ही आम को देखा,

उसने रोते हुए कहा – पिताजी ! आम मुझे दो, आपको देना ही पड़ेगा। तीसरा लड़का केवल आम को देख रहा था। उसने न मांगा, न रोया। चौथे लड़के ने आम की ओर ध्यान ही नहीं दिया। वह अपने कार्य में लगा रहा। पिता ने चारों को एक-एक आम दे दिया। दृष्टांत का द्राष्टांतिक यह है कि जो लड़का आम को देखते ही दौड़ा, मांगने लग गया, वह पदार्थ का अर्थी था। जो रोने लग गया, दुःखी हो गया, वह आर्त्त बच्चा था। जो आम की ओर देख रहा था, वह जिज्ञासु था। उसकी केवल आम को जानने की इच्छा थी कि आम कैसा है ? जिसने आम की ओर ध्यान ही नहीं दिया, वह अपने आप में ही मस्त था। उसमें आम के प्रति कोई आकर्षण नहीं था।

हम सुख में भी भगवान् की भक्ति करें यानी भक्ति-संपन्न बनें और जीवन में संयम व सादगी का अभ्यास करते रहें तो हम अनेक दुःखों से स्वतः मुक्त हो जाएंगे। इससे हमारे पाप कर्मों का ज्यादा बंध नहीं होगा, पुराने पाप-कर्मों की निर्जरा हो जाएगी और आने वाले दुःखों से या संभावित रूप में आने वाले दुःखों से आदमी को छुटकारा मिल जाएगा।

२०

जरा और मृत्यु को जीतो

आदमी के भीतर भय संज्ञा रहती है। जो कष्टकारी स्थिति होती है या अप्रिय स्थिति होती है, उससे आदमी डरता है। प्रस्तुत प्रसंग में दो स्थितियों का उल्लेख किया जा रहा है — जरा और मृत्यु। जरा यानी बुढ़ापे की स्थिति भी कष्टकारी होती है और मृत्यु से भी आदमी डरता है। आदमी कामना करता है कि मैं चिर युवा बना रहूं, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। वह यौवन कभी न कभी चला जाता है। यौवन के चले जाने पर बुढ़ापा आ जाता है। बुढ़ापे में शरीर के अंगों पर भी असर आ सकता है। कवि ने सुन्दर कहा —

कानां, केसां, लोयणा, कर गोडां दांतां।
एता मांहि बिखो पड़ै, जोबणियो जातां।।

जब यौवन जाता है तो कान में यानी श्रवण शक्ति में भी अंतर आ जाता है। अनेक लोग ऐसे होंगे जो कर्ण-यंत्र के सहारे कुछ सुन पाते हैं। उसके बिना सुनना कठिन होता है। किसी-किसी की श्रवण शक्ति इतनी कमजोर हो जाती है कि कर्ण-यंत्र भी पूरा सहारा नहीं देता। केशों में भी अंतर आ जाता है। काले-काले मनोरम दिखने वाले केश बुढ़ापे में सफेद हो जाते हैं। केशों का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। काले केश अच्छे लगते हैं, उससे रूप निखरता है। केश सफेद हो जाते हैं तो सौन्दर्य में भी कुछ कमी आ जाती है। केश भी एक अलंकार है। केशों को अच्छी तरह संवारकर रखा जाए तो वह भी शरीर का एक अलंकरण होता है, आभूषण-सा होता है। हालांकि किसी के यौवन में भी केशों में अन्तर आ जाता है। युवावस्था में भी केश कुछ-कुछ सफेद होने लग जाते हैं। बुढ़ापा आने पर दृष्टि में भी अन्तर आ जाता है। बुढ़ापे की बात तो दूर बचपन में या युवावस्था में भी कितने लोग चश्माधारी बन जाते

हैं। वे चश्मे की सहायता के बिना ठीक तरह पढ़ नहीं पाते, देख नहीं पाते। चालीस वर्ष के बाद तो बहुत सारे लोगों को चश्मे की आवश्यकता हो जाती है। अगर आंखों का ध्यान रखा जाए तो रोशनी बनी रह सकती है। देर रात तक मन्द प्रकाश में पढ़ते रहना, ठीक विधि से न पढ़ना, टी.वी. ज्यादा देखना और निकट बैठकर देखना, ऐसे कुछ कारणों से आंख पर जल्दी असर आ सकता है।

अवस्था के साथ कुछ हाथ में भी अन्तर आ जाता है। जो हाथ मजबूत होता है, बुढ़ापा आने पर चमड़ी नीचे लटकने लग जाती है। हाथ-पांव कांपने लग जाते हैं, शक्ति कम हो जाती है। पचास वर्ष के बाद तो कई लोगों के घुटनों में दर्द होने लगता है। हमारे अष्टमाचार्य परमपूज्य कालूगणी हाथ में गेडिया रखते थे। यद्यपि उम्र कोई ज्यादा नहीं थी, किन्तु चलने में कठिनाई होने लगी। सरदारशहर के लिए तो एक कहावत है कि वहां के लोगों के पैरों में दर्द जल्दी हो जाता है और अधिकतर लोगों के दांत खराब होते हैं। संभवतः वहां के पानी का ऐसा प्रभाव हो सकता है। सबके दर्द होता ही है, ऐसी बात भी नहीं है। बुढ़ापे में दांत भी गिरने लगते हैं। दांतों पर भी असर आ जाता है। इस प्रकार बुढ़ापे में कान, केश, आंख, हाथ, पैर और दांत में विक्षेप हो जाता है। बुढ़ापा आने के बाद शरीर अक्षम हो जाता है। कई लोग तो बुढ़ापे में भी अपना काम स्वयं कर लेते हैं, किन्तु जिनमें अपना काम करने की शक्ति नहीं होती है, उनके लिए बुढ़ापा दुःख देने वाला बन सकता है। जब शरीर अक्षम हो जाता है, तब स्नेह के साथ, सम्मान के साथ सेवा करने वाले न हों तो बुढ़ापा दुःखद बन सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।७/२९।।

जो मेरे शरण होकर जरा और मरण से छूटने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को ,सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं।

आत्म-साधना का उद्देश्य क्या है? एक शब्द में कोई उद्देश्य है तो वह दुःख-मुक्ति है। दुःख-मुक्ति के लिए आदमी साधना करता है, अध्यात्म की शरण में जाता है, परमात्मा की शरण में जाता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि बुढ़ापा और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिए आदमी साधना करता है। श्रीकृष्ण का कथन है कि मेरे आश्रित होकर जो साधना करते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता बनते हैं, अध्यात्मवेत्ता बन जाते हैं, अखिल कर्मवेत्ता बन जाते हैं और वे जरा और मरण के दुःख से मुक्त भी हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।

धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमम् ।।२३/६८ ।।

जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

गीता में श्रीकृष्ण की शरण की बात कही गई तो उत्तराध्ययन में धर्म की शरण की बात कही गई है । वहां कहा गया—धर्म की शरण में आ जाओ तो तुम्हारा उद्धार हो जाएगा, क्योंकि धर्म एक द्वीप है । जैसे समुद्र के बीच टापू होता है, जहां आदमी सुरक्षित रह सकता है, वैसे ही धर्म एक टापू है, प्रतिष्ठा है, आधार है, शरण है । दोनों श्लोकों में सारांश और तात्पर्य में काफी समानता है । जरा और मरण का यह प्रवाह है । इसमें कितने प्राणी बहते जा रहे हैं । आदमी के मन में वैराग्य पैदा होता है, उसका एक कारण है दुःख से छुटकारा पाने की भावना । जैन वाङ्मय में थावच्चापुत्र का प्रसंग आता है । जब थावच्चापुत्र को यह ज्ञात हुआ कि एक दिन सभी को मरना पड़ेगा, मुझे भी मरना पड़ेगा, तब उसके मन में भय पैदा हो गया । उसने मां से पूछा — क्या इस मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई उपाय है ? मां ने कहा — भगवान् नेमिनाथ इस मृत्यु के फंदे से आदमी को निकाल सकते हैं, बचा सकते हैं । थावच्चापुत्र के मन में दीक्षा लेने की भावना उत्पन्न हो गई । उसने धर्म की शरण स्वीकार कर ली । अनेक लोगों में मृत्यु से भय होता है, पर वह भय वैराग्य के रूप में बदल जाए, ऐसा भय कितनों में होता है ? महात्मा बुद्ध, थावच्चापुत्र जैसे कुछ लोग होते हैं, जिनमें वह भय वैराग्य को पैदा करने वाला होता है और वे संन्यास की दिशा में आगे बढ़ जाते हैं ।

महात्मा बुद्ध ने जब बीमार व्यक्ति को देखा, बूढ़े व्यक्ति को देखा और शव को देखा तो जिज्ञासा हुई, भय पैदा हुआ, फिर छुटकारा पाने की भावना पैदा हुई । जब एक दिन संन्यासी को देखा, तब पता चला कि दुःख से छुटकारा पाने का उपाय है संन्यास ले लेना । एक रात बुद्ध अपनी पत्नी और पुत्र राहुल को छोड़कर घर से निकल पड़ते हैं, अभिनिष्क्रमण कर जाते हैं । मैं बूढ़े लोगों को देखता हूं कि वे किस प्रकार धीरे-धीरे दूसरों के सहारे चलते हैं । उनके लिए बिना सहारे चलना मुश्किल हो जाता है । शरीर की स्थिति कैसी हो जाती है ? एक बुढ़िया झुकी हुई धीरे-धीरे चल रही थी । उसे एक बच्चा मिला । वह मजाक के मूड में आ गया । उसने पूछा — बुढ़िया मां ! ऐसी कौनसी चीज गुम हो गई, जिसे तुम खोज रही हो ? बुढ़िया भी समझदार थी । उसने

कहा – बेटा ! मेरा यौवन रूपी मोती गुम हो गया है, उसे ढूंढ रही हूं। बुढ़ापा आ जाने के बाद वापिस जवानी तो आ नहीं सकती। बच्चा तो जवान व बूढ़ा बन सकता है, किन्तु बूढ़ा वापिस बच्चा नहीं बन सकता। अगर भावों में शैशव रह जाए तो कल्याण हो सकता है। शरीर का शैशव चले जाने के बाद भी भावों के शैशव को रखने का प्रयास करें। आदमी धर्म की शरण स्वीकार करे, कल्याण होगा।

२१

अध्यात्म-संपन्न बनो

जीवन एक सचाई है। संसार का प्रत्येक प्राणी जीवन जीता है। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं होती कि कौन व्यक्ति कितना जीवन जीता है। महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि कौन व्यक्ति कैसा जीवन जीता है। जीने का भी एक उद्देश्य होता है। चिन्तनशील व्यक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य-निर्धारण अवश्य करना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा – 'लक्ष्य को ही अपना जीवन-कार्य समझो। हर समय उसी का चिन्तन करो, उसी का स्वप्न देखो और उसी के सहारे जीवित रहो।' जो व्यक्ति लक्ष्यपूर्वक जीवन जीता है, वह अधिक सफल होता है। सबके जीवन का लक्ष्य समान हो, यह आवश्यक नहीं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जीने वाले व्यक्तियों के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन का एक लक्ष्य हो, यह भी जरूरी नहीं। अनेक व्यक्तियों का एक लक्ष्य भी हो सकता है और एक व्यक्ति के अनेक लक्ष्य भी हो सकते हैं।

अध्यात्म के आचार्यों ने जीवन का एक लक्ष्य निर्दिष्ट किया – आत्मशोधन। आत्मा की शुद्धि के लिए अध्यात्म/धर्म की आराधना की जाती है। धर्म की साधना करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन बनता है शरीर। जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा नहीं आता, व्याधियां नहीं बढ़ती और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती, तब तक धर्म का आचरण किया जा सकता है। प्रश्न उपस्थित हुआ–व्यक्ति शरीर को धारण क्यों करे? उत्तराध्ययन सूत्र में समाधान दिया गया – पूर्व कर्मों के क्षय के लिए इस शरीर को धारण करे। शरीर को धारण करने का और उसको उचित आहार से पुष्ट रखने का एकमात्र उद्देश्य है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय किया जा सके और संयम की साधना से नए कर्मों को रोका जा सके। शरीर-धारण का यह एक आध्यात्मिक लक्ष्य है। शरीर

को बनाए रखने के लिए अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है। उनमें एक है – भोजन। भोजन शरीर को पुष्ट रखने और टिकाने के लिए अति आवश्यक है। भोजन के बिना कुछ समय तो जीवन जीया जा सकता है, पर लम्बे समय तक नहीं जीया जा सकता। जीवन चलाने के लिए भोजन करना आवश्यक है, किन्तु भोजन के साथ विवेक भी आवश्यक होता है। कब, किस समय, क्या, कितना और कौनसा भोजन करना चाहिए, यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है।

उपवास यदि निर्जरा का साधन बनता है तो भोजन भी निर्जरा का साधन बन सकता है, बशर्तेभोजन का उद्देश्य स्पष्ट हो। जीने के लिए भोजन किया जाए, भोजन के लिए न जीया जाए। निर्जरा के बारह प्रकार बताए गए हैं, उनमें पहला भेद है – अनशन। अनशन के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं – इत्वरिक और यावत्कथिक। वर्तमान काल के परिप्रेक्ष्य में उपवास से लेकर छह महीनों तक की जो तपस्या की जा सकती है, वह इत्वरिक अनशन कहलाता है। जीवनपर्यंत के लिए जो अनाहार की साधना स्वीकार की जाती है, वह यावत्कथिक अनशन कहलाता है। अनशन की साधना सबके लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। हालांकि मेरा तो यह मन्तव्य है कि उपवास जिस व्यक्ति के अनुकूल रहे, उसे उपवास या कुछ दिनों के लिए एकान्तर अवश्य करना चाहिए। जिन व्यक्तियों के लिए उपवास अनुकूल नहीं रहता, उनके लिए ऊनोदरी तप बड़ा लाभदायी होता है। किसी ने पूछा–पाचक दवा कौनसी होती है? उत्तर दिया–सबसे अच्छी पाचक दवा ऊनोदरी तप होता है। खाने में संयम रहेगा तो पाचन अपने आप ठीक होगा। यह ऊनोदरी का तप और भी अनेक दृष्टियों से लाभदायी होता है। स्वाध्याय, इन्द्रिय-संयम, कषाय-शमन आदि की साधना में यानी अध्यात्म की साधना में ऊनोदरी योगभूत बनती है।

साधना के क्षेत्र में अध्यात्म का मूल्य है। व्यक्ति में जितना अध्यात्म का विकास होता है, वह उतना ही ज्यादा विशिष्ट होता है।

श्रीकृष्ण से पूछा गया – अध्यात्म क्या होता है? उन्होंने संक्षेप में जवाब दिया **– स्वभावोऽध्यात्म मुच्यते ।।८/३ ।।** स्वभाव को अध्यात्म कहा जाता है। जीव का जो स्वभाव है, आत्मा का जो स्वभाव है, वह अध्यात्म है। **आत्मनि अधिः** अर्थात् आत्मा में रहना, अपने आप में रहना अध्यात्म होता है। आत्मा का स्वभाव वीतरागता है। राग-द्वेष का भाव विभाव है।

जिसके मन में, भावों में पाप नहीं होता, निष्पाप होता है, उसकी आत्मा शुद्ध रहती है। हमारे भीतर विभिन्न प्रकार के भाव आते रहते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है। काम भले ही बढ़िया करे, भावना खराब है तो फल भी खराब मिलता है और भावना उत्तम है तो फल भी उत्तम मिलता है। जिसके भाव निर्मल रहते हैं, उसकी आत्मा भी शुद्ध रहती है।

एक बार का मलिन भाव जहां व्यक्ति का पतन कर देता है, वहां एक बार का पवित्र भाव व्यक्ति को ऊंचा उठा लेता है। मरुदेवा माता का उदाहरण हमारे सामने है। भावशुद्धि के द्वारा वे क्षणों में ही कैवल्य को उपलब्ध हो गईं, सिद्धावस्था को प्राप्त हो गईं। यद्यपि उनके पूर्व का ऐसा कुछ योग भी था, पर भावशुद्धि के बिना मात्र योग से यह संभव नहीं है। निश्चय ही उनकी कैवल्य एवं सिद्धावस्था-प्राप्ति के लिए अपेक्षित भावशुद्धि हुई थी। यह भावशुद्धि और अशुद्धि की बात हर व्यक्ति के लिए गहराई से समझने की है।

जैन साधु के लिए दो बार प्रतिक्रमण करने का विधान है—प्रातः सूर्योदय से पूर्व और सायं सूर्यास्त के बाद। जैनों में प्रतिक्रमण शब्द बड़ा प्रसिद्ध है। प्रतिक्रमण का अर्थ है — अपने स्वभाव में लौट आना, अपने घर में आ जाना। साधु ज्यादा से ज्यादा स्वभाव में रहे, यह वांछनीय है। यदि मोह का, राग-द्वेष का प्राबल्य होता है तो आदमी स्वभाव से विभाव में भी चला जाता है। विभाव से वापिस स्वभाव में आना प्रतिक्रमण होता है। साधु का जो नियम है, आचार का विधान है, उसके अनुरूप चलने का मतलब है अपने घर में रहना। अपने आचार या विधान से हट जाने का मतलब है अनाचार में चले जाना।

भाव जीव का स्वरूप है और मूल स्वरूप में क्षायिक भाव है। सारे कर्मों के क्षय से जो स्थिति निष्पन्न होती है, वह आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होने से अनंत ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने से अनंत दर्शन की प्राप्ति होती है। मोहनीय कर्म क्षय होने से अनंत आनंद की प्राप्ति होती है। अंतराय कर्म क्षीण होने से अनंत बल की प्राप्ति होती है और चार अघाती कर्मों के क्षीण होने से अटल-अवगाहन, अमूर्तिकपन, अगुरुलघुपन और आत्मिक सुख — ये गुण प्राप्त होते हैं। ये गुण ही जीव का स्वरूप है। साधना करते-करते ज्यों-ज्यों व्यक्ति क्षायिक भाव की ओर आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह अध्यात्म की गहराई में उतरता जाता है। संन्यासी, ऋषि-महर्षि जो साधना करते हैं, वे अध्यात्म की साधना करते हैं।

जो स्वभाव में रमण करता है, वह व्यक्ति जीवन-मुक्त हो जाता है। संसार में रहते हुए भी वह मुक्तता का अनुभव करता है। स्वभाव और जीवन- मुक्तता — दोनों एक भूमिका की स्थितियां प्रतीत होती हैं। वैसे पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव होता है। अग्नि का स्वभाव है उष्णता और जल का स्वभाव है शीतलता, पर गीता में आत्म-स्वभाव की चर्चा की गई है। शरीर तो विनाशधर्मा है। शरीर का स्वभाव अलग है और आत्मा का स्वभाव अलग है। आत्मा को अमर कहा गया और शरीर को नश्वर कहा गया। आत्मा हमेशा रहने वाला तत्त्व है। अनंतकाल बीत जाएगा तो भी आत्मा नहीं मरेगी। संसार में जितनी आत्मा है, उतनी ही आत्मा हमेशा रहेंगी। न एक कम होगी, न एक ज्यादा होगी। यह अलग बात है कि संसारी आत्माएं मोक्ष में चली जाएंगी, फिर भी रहेंगी तो लोकाकाश में ही। अलोक में तो जा नहीं सकती। यह जैनदर्शन का सिद्धांत है कि अलोक में कोई जीव जा नहीं सकता। आकाश के दो विभाग हैं — लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश के जो पुद्गल हैं, वे अलोकाकाश की सीमा में नहीं जा सकते, क्योंकि वहां वह तत्त्व नहीं है, जिसके आधार पर गति और स्थिति हो सके।

एक अवधारणा यह भी रही है कि व्यवहार राशि से जितने जीव मोक्ष में जाते हैं, उतने जीव अव्यवहार राशि में से व्यवहार राशि में आ जाते हैं यानी व्यवहार राशि का हिसाब बराबर रहता है। हम अध्यात्म का स्पर्श करने का और आत्मा में रहने का अभ्यास करें, यह अध्यात्म-संपन्नता हमारे लिए कल्याणकारी होगी।

२२

शुभ भाव-संपन्न बनो

हमारी दुनिया में नियति नाम का तत्त्व भी काम करता है। मेरा यह मन्तव्य है कि नियति की सर्वथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। पुरुषार्थ का महत्त्व है तो नियति का भी अपना मूल्य है। नियति की सर्वथा उपेक्षा कर जगत् की समीचीन व्याख्या नहीं की जा सकती। कुछ जागतिक नियम होते हैं। नियति एक जागतिक नियम है। उन जागतिक नियमों में एक नियम है जो जन्म लेगा, वह अवश्य मरेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि जन्म तो ले लिया और मृत्यु कभी नहीं आएगी। श्रीमद्भगवद्गीता में पुनर्जन्म का जो सिद्धान्त है, वह जैनदर्शन के द्वारा भी सम्मत है। हमें पुनर्जन्म के अनेक नियम व्यापकता के साथ, बहुलता के साथ जैन आर्षवाणी में प्राप्त होते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं हो जाती। पुर्नजन्म का हेतु है कषाय। वह प्रबल होता रहता है और आत्मा एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को प्राप्त होती रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है —

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।२/५१।।

समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो, निर्विकार परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

समता से युक्त जो मनीषी आत्माएं होती हैं, वे कर्म-फल की आशंसा छोड़कर निष्काम बनकर लालसा आदि से पूर्णतया मुक्त होकर, अनामय, निराकार, निरंजन परमात्मा के स्थान को प्राप्त हो जाती हैं। एक लोभ समाप्त हो जाता है तो सारी

वासनाएं, सारे विकार समाप्त हो जाते हैं। जैन तत्त्वविद्या का सिद्धान्त है कि क्रोध, मान, माया पहले खत्म होते हैं। सबसे बाद में खत्म होने वाला लोभ है। जिसने लोभ को त्याग दिया उसने सब विकारों को त्याग दिया, ऐसा माना जा सकता है। जैन साधना पद्धति में चौदह गुणस्थान बताए गए हैं। अंतिम चार गुणस्थान वीतराग अवस्था के होते हैं। दसवां गुणस्थान पूर्ण वीतरागता का नहीं, किन्तु वहां प्रायः वीतरागता होती है। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभांश विद्यमान रहता है, इसलिए उसका नाम सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान है। लोभ का परित्याग करने का मतलब है आत्मा सारे विकारों से मुक्त हो चुकी है, राग-द्वेष से मुक्त हो चुकी है।

मैंने यह कर्म किया, यह तपस्या की, यह साधना की, यह सेवा की, उसका मुझे फल मिले, यह फलाशंसा पाप है, कमजोरी है, कषाय है और परम की प्राप्ति में बाधक है, इसलिए हमें कर्म के फल की आशा नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी तो आदमी बिना कर्म किए, बिना तपस्या किए, बिना साधना किए भी कुछ पाने की कामना कर लेता है कि मुझे वह स्थान मिल जाए, वह पदार्थ मिल जाए, वह पोस्ट मिल जाए आदि। यह तो और भी खराब बात है।

गीताकार ने कहा कि जो आत्माएं कर्म से होने वाले फल की आशा को छोड़ देती हैं, जो समता की बुद्धि से सम्पन्न हो जाती हैं, ऐसी मनीषी ज्ञानवान् आत्माएं परमपद को प्राप्त कर सकती हैं। आमय शब्द का प्रयोग गीताकार ने जिस संदर्भ में किया, उत्तराध्ययन सूत्र में भी लगभग उसी संदर्भ में आमय शब्द काम में लिया गया है। उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्ययन में आया है **– दीहामय।** लंबेकाल से जो राग-द्वेष की, कामना की, कषाय की बीमारी हमारे साथ जुड़ी हुई है, उस बीमारी से जो मुक्त हो जाता है, वह अत्यंत सुखी बन जाता है, कृतार्थ बन जाता है, प्रशस्त बन जाता है और परमपद को प्राप्त कर लेता है। गीता में कामना को छोड़ने से, कर्म-फल की आशंसा को छोड़ने से परमपद प्राप्ति की बात कही गई है और उत्तराध्ययन में भी विकारों से मुक्त होने पर अत्यंत सुख मिलने की बात कही गई है। परमपद की प्राप्ति से पहले आदमी जन्म-मरण करता रहता है। मृत्यु के समय अथवा उससे पहले आदमी के भीतर जैसे विचार या भाव रहते हैं, वैसे ही भावों में उसका जन्म होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।।८/६ ।।

हे अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहता है।

जिस भाव में आदमी की मृत्यु होती है, जिन परिणामों में, जिस लेश्या में मृत्यु होती है, उसी भाव में आदमी आगे जाता है, उसी भाव में वह पैदा होता है। भगवती सूत्र में कहा गया –

जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ, तल्लेस्सु उववज्जइ। ३/१८३ ।।

जो जीव जिस लेश्या वाले द्रव्यों को ग्रहण कर मरता है, वह उसी लेश्या में उत्पन्न होता है।

जैन आगम साहित्य में सिद्धांत दिया गया कि जिस लेश्या में मृत्यु होती है, उसी लेश्या में आगे उत्पत्ति होती है। मैं इस सिद्धांत को तीन स्थितियों में एक समान रूप से देखता हूं कि जिन परिणामों में आयुष्य का बंध होता है उन्हीं परिणामों में मृत्यु होती है और उन्हीं परिणामों में अगला जन्म होता है अर्थात् आयुष्य का बंधन, मृत्यु और जन्म – ये तीनों एक लेश्या में, एक समान परिणाम में होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु और जन्म के बीच में कितना अंतराल रहता है? जैन मान्यता के अनुसार अंतराल विशेष है ही नहीं। मानो इधर मृत्यु हुई और उधर जन्म हुआ। बीच में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक चार समय तक का विधान मिलता है। जैनदर्शन में काल का जो वर्णन है, उसमें समय एक पारिभाषिक शब्द के रूप में है। वहां समय का अर्थ है काल की न्यूनतम इकाई। एक सैकेण्ड में असंख्यात समय बीत जाते हैं। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि एक समय कितना छोटा होता है?

आयुष्य के बंध का भी अपना सिद्धान्त है। एक आदमी यहां जीवन जी रहा है। वह आगे किस गति में जाएगा? इसका निर्णय जीवनकाल के दो भाग पूरे होने के बाद होगा। जैसे किसी व्यक्ति की साठ वर्ष की उम्र है तो चालीस वर्ष से पहले अगली गति के आयुष्य का बंध नहीं होगा। चालीस वर्ष पूरे होने पर अगली गति में कहां जाना है, यह निर्णय हो सकता है। अगर उस समय न हो तो फिर बीस वर्ष के तीन भाग करो और फिर दो भाग बीतने पर अगली गति के आयुष्य का बंध हो सकता है। यों

करते-करते मरने से पहले अगली गति के आयुष्य का बंध हो ही जाएगा। उसके बिना तो कोई भी प्राणी अगली गति में नहीं जा सकता, मर नहीं सकता। जिस प्रकार आप लोग ट्रेन से यात्रा करते हैं तो पहले रिजर्वेशन कराते हैं, इसी तरह प्राणी को आगे कहां जाना है, पहले यह निर्धारण होता है, उसके बाद ही वह मरता है।

कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि जिन्दगी भर पाप कर लो, अंतिम समय में अच्छे परिणाम आ जाएंगे तो हमारी गति ठीक हो जाएगी, किन्तु ऐसा नहीं होता है। जिन्दगी भर में जैसे परिणाम ज्यादा आते हैं, वैसे ही परिणाम अंतिम समय में आने की ज्यादा संभावना रहती है। अगर जिन्दगी में पाप ही पाप किया है तो अंतिम समय में शुभ भाव आ जाएं, यह कम संभव है। कुछ लोग ऐसे मिल सकते हैं, जिन्होंने जिन्दगी में खूब पाप किया, किन्तु बुढ़ापे में वे धर्माचरण करने लगते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आदमी जिस भाव में रहा है, वही भाव अंतिम समय में आने की संभावना रहती है। गीताकार ने आगे कहा —

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।८/७।।

हे अर्जुन! तू निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगा।

कुछ श्रद्धालु या धार्मिक लोग जप का प्रयोग करते रहते हैं। भले वे रसोई करें या अन्य काम करें, उनके मुख में जप का प्रयोग चलता रहता है। भीतर ही भीतर अर्हम्-अर्हम् या जिसका जो आराध्य है, उसका जप चले तो भाव शुद्ध रहने की एक संभावना बन जाती है। अगर भीतर में वैसा भाव आ रहा है, फिर उस जप को बोलकर करने की अपेक्षा नहीं रहती। वह भीतर ही भीतर चलता रहता है। जब भाव शुद्ध रहेंगे तो अगली गति भी अच्छी होने की संभावना रहेगी। हमारा जीवन अनेक भावों का भंडार है। इस भंडार में विधायक भाव भी हैं और निषेधात्मक भाव भी हैं। इन दोनों में कई बार संघर्ष भी हो जाता है। संघर्ष में कई बार विधायक भाव जीत जाते हैं और कभी निषेधात्मक भाव जीत जाते हैं। जैन तत्त्वविद्या की भाषा में इसे उदय भाव और क्षयोपशम भाव का संघर्ष भी कहा जा सकता है। आदमी शरीर से, वाणी से, मन से जो कुछ क्रिया करता है, उस क्रिया का संचालक कौन है? इस पर ध्यान देना चाहिए। कठपुतलियों का खेल होता है। उसमें कठपुतलियां बोलती हैं, गाती हैं, लड़ती हैं,

अनेक क्रियाएं करती हैं, परन्तु उनमें कोई चेतना नहीं होती है। वे स्वयं कुछ नहीं करती हैं, उन्हें कराने वाला दूसरा है। उनका संचालक नेपथ्य में रहता है। हमारे भाव हमें क्रिया कराते हैं। भाव अच्छे हैं तो क्रिया अच्छी होगी और भाव बुरे हैं तो क्रिया बुरी होगी। अतः आदमी अपने भावों को शुद्ध रखे।

आदमी मृत्यु को यदा-कदा याद करता रहे ताकि उसका जीवन अच्छा रह सके और वह सदाचार के पथ पर चल सके। एक साधु अपनी साधना में लीन रहता है। इसका मतलब है वह काफी शुद्ध भावों में रहने वाला व्यक्ति है, इसलिए उसकी गति या तो मोक्ष होती है या फिर वह देवगति में पैदा होता है। वह न नरक गति में जाता है, न तिर्यंच गति में जाता है, न मनुष्य बनता है, क्योंकि भाव इतने शुद्ध रहते हैं और आयुष्य का बंध भी शुद्ध भावों में होता है, इसलिए वह मरकर देवगति में ही जाता है, अन्य गति में पैदा नहीं होता। जिस-जिस भाव में आदमी शरीर को छोड़ता है, उसी परिणाम में उसकी अगली गति होती है, इसलिए आदमी हमेशा शुभ भावों में रहने का प्रयास करे।

२३

कलात्मक जीवन जीओ

भारतीय जनमानस में प्रायः सभी लोगों का यह चिन्तन रहता है कि मेरा परलोक सुधर जाए। मेरी अगली गति अच्छी हो। परलोक सुधरने का मूल कारण है आत्मा की निर्मलता। अगर आत्मा निर्मल है तो परलोक या अगली गति अच्छी हो सकेगी। परलोक सुधारने के लिए वर्तमान जीवन को सुधारना अपेक्षित है और वर्तमान जीवन को सुधारने के लिए जरूरी है कि आदमी कलात्मक जीवन जीए। एक व्यक्ति नौका-यात्रा कर रहा था। वह पढ़ा-लिखा और डिग्रीधारी था।

उसने नौका संचालक से पूछा – भैया! तुम फिजियोलॉजी जानते हो?

नौकाचालक ने कहा – महाशय! यह क्या चीज है? मैं नहीं जानता। मैंने तो यह शब्द पहली बार सुना है।

यात्री – तब तो तुम्हारी २५% जिन्दगी तो ऐसे ही चली गई। अच्छा, यह बताओ, क्या तुम साइकोलॉजी जानते हो?

नौकाचालक – महाशय! मैंने तो यह भी पहली बार सुना है। साइकोलॉजी किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता।

यात्री – भैया! तब तो तुम्हारी ५०% जिन्दगी व्यर्थ चली गई।

खैर, कोई बात नहीं। क्या तुम बायोलॉजी जानते हो?

नौकाचालाक – महाशय! मैं किसी लॉजी को नहीं जानता। मैं तो रोजी रोटी को जानता हूं और उसी के लिए नौका चलाता हूं।

यात्री – भैया! तब तो तुम्हारी ७५% जिन्दगी तो पानी में ही चली गई।

अचानक समुद्र में तूफान आ गया। नौका डगमगाने लगी। नौकाचालक ने

यात्रियों को सूचना दी कि नौका खतरे में है। सब अपने-अपने इष्ट को याद करें। फिर उस यात्री से पूछा — महाशय! क्या आप तैरियोलॉजी जानते हैं?

यात्री — भैया! यह कौनसी लॉजी है? इसका नाम तो मैंने आज पहली बार सुना है।

नौकाचालाक — महाशय! मेरी तो ७५% जिन्दगी ही पानी में डूबी थी। लगता है अब आपकी तो १००% जिन्दगी पानी में डूबने वाली है। तूफान बढ़ रहा है। मैं तो तैरकर किनारे तक पहुंच जाऊंगा। खतरा आपको है।

जीने की कला का मतलब है, अच्छा जीवन जीना सीख लेना, धार्मिकता से युक्त जीवन जीना सीख लेना और संसार समुद्र से तरने की कला सीख लेना।

जो व्यक्ति समाधि प्राप्त करने का इच्छुक है, जो श्रमण है, तपस्वी है, उस व्यक्ति की जीवनशैली विशिष्ट होनी चाहिए। विशिष्ट जीवनशैली का एक सूत्र है आहार-संयम। आहार का संयम नहीं है तो साधना में बाधा उत्पन्न हो सकती है और ध्यान में भी एकाग्रता स्थापित करने में कठिनाई पैदा हो सकती है। आहार का संयम न केवल साधक व्यक्ति के लिए आवश्यक है अपितु स्वास्थ्यकामी व्यक्ति के लिए भी अपेक्षित है। आहार-संयम की दृष्टि से अनेक बिन्दु हैं—

१. साधक की भोजन के प्रति आसक्ति न हो। खाद्य असंयम का मूल कारण है खाद्य पदार्थ के प्रति आसक्ति का होना। आसक्ति नहीं है तो संयम अपने आप सध जाता है।

२. आदमी भोजन करने में जल्दबाजी न करे। धीरे-धीरे अच्छी तरह चबा-चबाकर भोजन करे और ग्रास भी छोटा ले। जल्दी-जल्दी भोजन करने से असंयम भी हो सकता है और पाचन की दृष्टि से भी कठिनाई पैदा हो सकती है। जो व्यक्ति धीरे-धीरे और चबा-चबाकर खाता है, उसे तीन लाभ होते हैं — खाने में संयम होता है, आंतों को श्रम कम करना पड़ता है और साधना भी हो जाती है।

३. भोजन करते समय दिमाग में कोई अन्य विचार नहीं रखना चाहिए। भोजन करने से पूर्व खाद्य पदार्थ का निर्णय किया जा सकता है, पर आहार करते समय दिमाग में यह चिन्ता नहीं रहनी चाहिए कि मैं अमुक पदार्थ का सेवन कर रहा हूं। इससे मेरे वात, पित्त या कफ का प्रकोप बढ़ जाएगा। विवेकपूर्वक निर्णय के बाद आदमी निश्चिन्त होकर भोजन करे। भोजन के दौरान हंसी-मजाक व बातें न

करे और बार-बार न खाए। सामान्यतया मध्याह्नकालीन भोजन के बाद सायंकालीन भोजन तक पानी के अतिरिक्त कुछ भी खाना नहीं चाहिए। भोजन का अवस्था के साथ भी गहरा संबंध होता है। प्रायः चालीस वर्ष के बाद तला हुआ भोजन और पचास वर्ष के बाद मिठाई आदि नहीं खानी चाहिए। कभी-कभी नमक-परिहार और अन्न-परिहार का प्रयोग भी करना चाहिए।

इस प्रकार पवित्र भावना के साथ जागरूकतापूर्वक भोजन किया जाए तो स्वास्थ्य में लाभ होता है और साधना पुष्ट बनती है। स्वाद के लिए खाना अज्ञान, जीने के लिए खाना आवश्यकता और संयम की रक्षा के लिए खाना साधना है। साधक अपनी कर्म-निर्जरा और आत्मशुद्धि के लिए जीवन जीता है और जीवन रूपी गाड़ी को चलाने के लिए भोजन करता है। स्पष्ट लक्ष्य के साथ जीने वाला व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक और सुफल बना सकता है। जैसे जीना एक कला है, वैसे मरना भी एक कला है।

श्रीमद्भगवद्गीता में मरने की कला बताते हुए कहा गया है –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३।।

जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

पातंजलयोगदर्शन में कहा गया – **तस्य वाचकः प्रणवः** अर्थात् परमात्मा का वाचक शब्द है – ॐ। वैदिक परम्परा में ॐ को ब्रह्मा, विष्णु, महेश का वाचक माना गया है। जैन परम्परा में ॐ को परमेष्ठी का वाचक कहा गया है। ॐ का पाठ करने से पंच परमेष्ठी का आराधन हो सकता है।

नमस्कार महामंत्र में पांच पद हैं। इन पांच पदों के माध्यम से पांच महाशक्तियों के साथ तादात्म्य जोड़ा गया है। पांचों ही पदों का प्रारंभ 'णमो' शब्द से होता है। यह णमो शब्द अहंकार विलय, समर्पण, श्रद्धा और सम्मान का सूचक है। नमस्कार महामंत्र का पहला पद है – णमो अरहंताण। इसमें उन तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है जो वीतराग बन चुके हैं। णमो सिद्धाणं में उन आत्माओं को नमस्कार किया गया है, जो वीतराग तो हैं ही, सिद्धत्व को भी प्राप्त हो चुकी हैं। तीसरे पद में आचार्यों

को नमस्कार किया गया है। आचार्य वीतरागता के मार्गदर्शक होते हैं और स्वयं वीतरागता के साधक भी होते हैं। उपाध्यायों को नमस्कार इसलिए किया गया है कि वे वीतराग वाणी का अध्ययन करते हैं, अध्यापन करते हैं। पांचवें पद में साधुओं को नमस्कार किया गया है, क्योंकि वे वीतरागता की साधना करते हैं। पांचों ही पदों में वीतरागता आधारभूत तत्त्व है। यदि नमस्कार महामंत्र से वीतरागता को निकाल दिया जाए तो वह निष्प्राण बन जाएगा।

ऐसा भी कहा जा सकता है कि नमस्कार महामंत्र के माध्यम से वीतरागता के पांच स्तरों पर विराजमान अध्यात्मपुरुषों को नमस्कार किया गया है। वे अध्यात्मपुरुष पांच शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं—

- अर्हत् अर्हता/समर्थता के प्रतीक हैं।
- सिद्ध सिद्धि/सफलता के प्रतीक हैं।
- आचार्य निर्मल आचार के प्रतीक हैं।
- उपाध्याय ज्ञान के प्रतीक हैं।
- साधु साधना के प्रतीक हैं।

ॐ एक एकाक्षरी मंत्र है। उसका उच्चारण करते-करते, उसका ध्यान करते-करते जो अगली गति में जाता है, देह को छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त हो जाता है।

आदमी का अंतिम समय अच्छा बीते। उसके प्राण शुद्ध परिणामों में छूटे ताकि आत्मा का कल्याण हो सके। वीतरागता की दृष्टि से, परमात्मा की दृष्टि से ॐ आदि मंत्र के ध्यान में हमारे प्राण छूटते हैं, संथारे की स्थिति में प्राण छूटते हैं तो अगली गति अच्छी होने की संभावना बन जाती है।

२४

भक्तिपूर्वक दान दो

अध्यात्म-साधना में भक्ति का प्रयोग किया जाता है। भगवद्-भक्ति, पूज्यों की भक्ति करने से कर्म-निर्जरा का और पुण्य-बंध का लाभ प्राप्त होता है। हालांकि भक्ति के अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। जहां एक ओर नम्रता के रूप में भक्ति शब्द का प्रयोग होता है, वहीं आत्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार का प्रयास भी भक्ति है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—

मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।।

मोक्ष साधना की जो सामग्री है, उसमें भक्ति का बड़ा महत्त्व है। सबसे बड़ी भक्ति है—अपने स्वरूप की खोज करना, अपने स्वरूप का अनुसंधान करना।

गुरुओं के प्रति भक्ति का प्रयोग किया जाता है। भक्त अपने गुरुओं को दान भी देता है। एक दान भक्ति से दिया जाता है और एक दान व्यवहार निभाने के लिए दिया जाता है। दान-दान में बहुत अन्तर होता है। बड़ी भावना से जो सामान्य भोजन दिया जाता है, उसका भी बड़ा लाभ माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण दान और भक्ति के संदर्भ में कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।९/२६।।

जो भक्त मेरे लिए प्रेम से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि, निष्काम-प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र पुष्पादि मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीति सहित खाता हूं।

हम जिसको आराध्य मानते हैं, उसके प्रति हमारे मन में भक्ति कितनी है, यह ध्यान देने की बात है। हम मात्र उपचार करते हैं या वास्तव में भक्ति है ? यदि अंतरंग में भक्ति का भाव है तो सच्चा भक्त है। यदि अंतरंग में भक्ति का भाव नहीं है तो वह दिखावे का भक्त तो हो सकता है, सच्चा भक्त नहीं हो सकता। भक्ति के तो भूंगड़े भी अच्छे होते हैं, शबरी के बेर भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वस्तु का मूल्य कम होता है, भक्ति का मूल्य अधिक होता है।

साधु भिक्षा के लिए आपके घर में आए और आप एक बाजरी की रोटी भी साधु को शुद्ध नियम के अनुसार दान में देते हैं तो उसका भी बड़ा महत्त्व होता है। मैंने सुना है कि पहले श्रावक बाहर खड़े रहते कि कब साधु आएं और गोचरी करें। फिर हम भोजन करें। यह प्रथा होनी भी चाहिए। श्रावक सोचे कि हम तो खाते ही हैं, साधु के पात्र में नियमानुसार भोजन का कुछ अंश चला जाए तो हम धन्य हो जाएंगे। हमारे कितने कर्म कट जाएंगे। देने वाला व्यक्ति शुद्ध हो, देय वस्तु शुद्ध हो और लेने वाला व्यक्ति साधु हो और साथ में भक्ति का रंग हो तो दान का बड़ा महत्त्व होता है। खैर, साधु को दान देना तो बड़ी बात है ही, संसार में लौकिक दान का भी कुछ महत्त्व माना गया है। गृहस्थ के पास कोई व्यक्ति मांगने आ गया तो उसको भी दान देना गृहस्थ का फर्ज होता है। कुछ मांगने के लिए आये व्यक्ति को हाथ का उत्तर न देकर मुंह का उत्तर दे दिया जाये अर्थात् ना कह दिया जाए तो वह गृहस्थ के लिए अच्छी बात नहीं मानी जाती है।

आचार्य भिक्षु के साहित्य में मैंने एक पद्य पढ़ा था। उसमें बताया गया है कि दरिद्र कौन होता है ? सामान्यतया जिसके पास पैसा नहीं होता, उसको दरिद्र या निर्धन कहा जाता है, किन्तु भिक्षु स्वामी के साहित्य में कहा गया कि दरिद्र वह होता है, जिसके पास धन तो है पर वह दान नहीं करता। वह पद्य इस प्रकार है—

घर में धन पिण दलिद्री, जिको न देवै दान।
भारभूत धन तेहनो, कोरो करै गुमान।।

ऐसे दरिद्र व्यक्ति का धन भारभूत है, मात्र घमंड का पोषक है, जो दान नहीं करता। ऐसे धन से क्या फायदा ? सामान्यतया मांगना अच्छी बात नहीं है। कहा भी गया है—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहिं मांगन जाय।
तिन से पहले वे मुए, जिन मुख निकले नाय।।

वे व्यक्ति तो मर चुके हैं, जो कहीं जाकर हाथ फैलाते हैं, मांगते हैं, किन्तु उनसे पहले वे मर चुके हैं, जिनके मुख से ना-ना की बात निकलती है। भिखारी की तो मजबूरी होती है मांगना। एक भिखारी मांगने के लिए बड़ी हवेली में पहुंचा। भिखारी ने सोचा — यहां तो मुझे बहुत कुछ मिलेगा।

भिखारी — सेठ साहब ! भगवान् आपका भला करेगा, मुझे कुछ पैसे दे दो।

सेठ — अरे, अभी तो मेरे पास पैसे नहीं है।

भिखारी — सेठ साहब ! मुझे तो सूखी रोटी ही दे दो।

सेठ — अभी तो घर में रोटी भी नहीं है।

भिखारी — सेठ साहब ! फटा पुराना कपड़ा ही दे दो।

सेठ — अभी तो मेरे पास वह भी नहीं है।

भिखारी — सेठ साहब ! आपके फटे हुए जूते हों तो वे ही दे दो।

सेठ — वे भी नहीं हैं।

भिखारी — सेठ साहब ! जब आपके पास कुछ है ही नहीं तो आप यहां क्यों बैठे हैं ? मेरे साथ आओ। हम दोनों मिलकर भीख मांगने चलें।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा — मुझे अगर कोई भक्ति भावना से कुछ भी अर्पित करता है तो मैं उसे ग्रहण करता हूं। भारतीय साहित्य में भक्ति का बड़ा महत्त्व है। इतने भजन-कीर्तन होते हैं, वे भक्ति के संकेतक हैं। इनकी मूल आत्मा भक्ति होती है। भक्ति में आदमी अगर गाता है तो उसका महत्त्व अलग होता है। दान में भी भक्ति बड़ा प्राण होती है। भक्ति के साथ शुद्ध दान दिया जाता है तो दान का महत्त्व बढ़ जाता है।

२५

आराध्य की आराधना करो

जो वीतराग आत्माएं होती हैं, उनका किसी व्यक्ति विशेष के प्रति राग नहीं होता और किसी व्यक्ति विशेष के प्रति द्वेष नहीं होता। कौन आदमी कैसा है, इसका यथार्थ अंकन तो वीतराग आत्माएं ही कर सकती हैं। वे अच्छे को अच्छा जानती हैं और बुरे को बुरा जानती हैं। यथार्थ को जानना अलग बात है और राग-द्वेष करना अलग बात है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। ९/२९।।

मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूं। न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय है, परन्तु जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं।

श्रीकृष्ण का कथन है कि सभी प्राणियों के प्रति मेरे मन में समता का भाव है। कोई भी प्राणी मेरे द्वेष का पात्र नहीं है और कोई भी प्राणी मेरी प्रियता का पात्र नहीं है। मैं सबके प्रति समभाव रखने वाला हूं। जो लोग भक्ति के साथ मेरा भजन करते हैं, मेरे प्रति भक्ति रखते हैं, वे मेरे अंदर समा जाते हैं और मैं उनमें समा जाता हूं। भावना एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही उसको सिद्धि मिल जाती है। भगवान् के प्रति या आराध्य के प्रति एक भक्त के मन में जो भावना होती है, वह बहुत कुछ करने में सक्षम होती है। आराध्य-आत्मा चाहे कहीं अवस्थित हो, जो भक्तिपूर्ण भावना होती है, वह कल्याण करने वाली होती है और मनोबल को बढ़ाने वाली भी बन सकती है। जब मनोबल बढ़ जाता है तो फिर छोटी-मोटी बाधाओं की आदमी परवाह नहीं करता।

भक्ति-भक्ति में भी बड़ा अंतर होता है। एक आदमी अंतरंग भक्ति से पूजा-अर्चना करता है और एक व्यक्ति बहिरंग भक्ति से पूजा करता है। अंतरंग भक्ति में आराध्य के प्रति गहरा लगाव होता है। एक शिव-मंदिर था। उसमें अनेक लोग पूजा करने आते। एक भील जाति का आदमी भी मंदिर में आता। वह न तो पुष्पार्पण करता और न कोई पाठ करता। मूर्ति के आसपास कुल्ला भी कर लेता। लोगों को मूर्ति के पास कुल्ला करना अच्छा नहीं लगता। एक दिन वह भील मंदिर में गया। पीछे से कुछ लोग भी मंदिर में आये। लोगों ने देखा कि साक्षात् शिव आज इस भील के साथ बात कर रहे हैं। वे प्रभु के दर्शन करने दौड़े, इतने में शिव अदृश्य हो गए और आवाज आई कि सच्ची भक्ति जो इस भील में है, वह तुम्हारे में नहीं है। जब तक वह भक्ति नहीं होगी, तब तक मैं साक्षात् नहीं होऊंगा। लोगों ने सोचा कि अंतरंग भक्ति इसमें है और हममें नहीं है, इसका प्रमाण क्या है? तब आवाज आई कि कभी प्रमाण भी मिल जाएगा। दो-चार दिन बीते। वह भील भी मंदिर में आया और अन्य लोग भी मन्दिर में आए। लोगों ने देखा कि मूर्ति में जो आंख का स्थान है, वह खंडित है। वे परस्पर बोलने लगे कि किसने नुकसान कर दिया। पता चलने पर उसको मारेंगे, पीटेंगे। जब भील ने देखा कि मूर्ति में आंख नहीं है तो उसने तत्काल अपनी आंख निकाली और उस मूर्ति में लगा दी। उस समय आकाशवाणी हुई कि सच्ची भक्ति इसका नाम है।

भक्ति एक साधना है, एक प्रयोग है। हमें आराध्य की भक्ति करनी चाहिए, जिससे अहंकार का विलय हो सके। उस भक्ति के साथ-साथ हमारे में शक्ति भी होनी चाहिए। आदमी को शक्ति-विहीन नहीं होना चाहिए। भक्ति का अपना फल है और शक्ति का अपना फल है। भक्ति अपने आराध्य के प्रति हो सकती है, अपने इष्ट के प्रति हो सकती है। वह हर किसी व्यक्ति के प्रति नहीं हो सकती। परमात्मा की भक्ति अलग है और सामान्य व्यवहार निभाना अलग है।

भक्ति का प्रयोग शुद्ध भाव से होता है। विभिन्न लोग अपने-अपने ढंग से अपने आराध्य की आराधना करते हैं। सेठ के पास एक कर्मचारी काम करता था। सेठ भी पूजा, भक्ति करने वाला था और वह कर्मचारी भी पूजा, भक्ति करने वाला था। सेठ और कर्मचारी अलग-अलग परम्परा को मानने वाले थे। दोनों तिलक-छापे भी करते थे। सेठ का तिलक-छापा करने का अलग प्रकार था और कर्मचारी का तिलक-छापा करने का अलग प्रकार था। सेठ ने कर्मचारी से कहा — जिस प्रकार मैं तिलक लगाता हूं, उसी तरह तुम लगाया करो।

कर्मचारी – मैं अपनी आस्था के अनुसार ही चलूंगा।

सेठ – मेरे यहां नौकरी करनी है तो मैं कहूंगा वैसा करना पड़ेगा। तुम्हारी परम्परा यहां नहीं चलेगी।

अगले दिन कर्मचारी आया। सेठ ने देखा कि कर्मचारी ने अपने ही ढंग से तिलक-छापा कर रखा है।

सेठ – मैंने कल कहा था कि यहां नौकरी करनी है तो मेरे हिसाब से तिलक लगाया करो। आज फिर तुम अपने ढंग से तिलक लगाकर आ गए।

कर्मचारी – सेठ साहब! यह देखिए। उसने अपनी कमीज ऊपर कर दिखाया और कहा – आपकी परम्परा का तिलक-छापा मैंने पेट पर कर रखा है।

सेठ – तुमने ऐसा क्यों किया?

कर्मचारी – सेठ साहब! नौकरी तो मैं पेट के लिए करता हूं, इसलिए पेट पर आपकी परम्परा का तिलक-छापा किया है और मस्तक पर अपनी परम्परा का तिलक-छापा किया है। आस्था का भी अपना महत्त्व होता है। जो जिस परम्परा को मानने वाला है, उसे अपनी परम्परा का पालन भी करना चाहिए।

आदमी किसी भी परम्परा में रहे, जो लक्ष्य है उस लक्ष्य के प्रति आदमी को गतिमान रहना चाहिए, उस लक्ष्य के प्रति प्रयाण करते रहना चाहिए, अवश्य सफलता मिलेगी।

२६

मैत्री-संपन्न बनो

आदमी आत्मा का दर्शन करना चाहता है, परन्तु आत्मा का दर्शन या परमात्मा की प्राप्ति कौन कर सकता है ? इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता में बताया गया है —

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।११/५५ ।।

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिए संपूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करने वाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है और संपूर्ण भूतप्राणियों में वैरभाव से रहित है, वह अनन्य भक्ति युक्त पुरुष मुझे ही प्राप्त होता है ।

संसार में रहते हुए, परिवार में रहते हुए, सामाजिक कार्यों का संपादन करते हुए, विभिन्न पदों पर रहते हुए जो व्यक्ति अनासक्त होता है, वह व्यक्ति परम को प्राप्त कर सकता है। आसक्ति का छूटना सबके लिए आसान काम नहीं है। पद के प्रति आसक्ति, धन के प्रति आसक्ति, व्यक्ति के प्रति आसक्ति, वस्त्र के प्रति आसक्ति, मकान के प्रति आसक्ति यानी विभिन्न चीजों के प्रति आदमी के मन में आसक्ति हो जाती है, परन्तु प्रयास के द्वारा आदमी आसक्ति का त्याग भी कर सकता है ।

जो सभी प्राणियों के प्रति वैर रहित भाव वाला होता है, जो अहिंसक होता है, वह परम को प्राप्त हो सकता है । किसी के प्रति वैर भाव का न होना बहुत बड़ी बात है । सामान्यतया किसी ने कुछ कह दिया, किसी ने कुछ दुर्व्यवहार कर लिया तो उसके प्रति आक्रोश का भाव आ जाता है या बदला लेने की भावना आ जाती है । कभी-कभी तो वैर की ऐसी गांठ बंध जाती है कि आदमी लंबे समय तक उसे नहीं खोलता ।

राजस्थान के किसी छोटे गांव में एक आदमी की मां का देहावसान हो गया। प्राचीनकाल में यह परम्परा थी कि वृद्ध व्यक्ति का देहावसान हो जाता तो ओसर-मोसर किए जाते, मृत्यु-भोज किया जाता। उसने मृत्यु-भोज के रूप में बड़ा भोज आयोजित किया। गांव के बहुत सारे लोग भोज में आए। राजस्थान में प्रायः भोजन के अन्त में लोग पापड़ खाते हैं। जिसकी मां का देहावसान हो गया, वह व्यक्ति स्वयं पापड़ परोसने लगा। एक मंडली में पांच-सात व्यक्ति बैठे थे। उसने प्रायः सभी लोगों को अखंड पापड़ परोसा। एक व्यक्ति को कोई संयोग से टूटा हुआ पापड़ परोस दिया। उसने सोचा कि सबको तो अखंड पापड़ परोसा है। एक मुझे ही टूटा हुआ पापड़ परोसा है। यह तो मेरा अपमान है। खैर, मैं भी कभी इसका बदला लूंगा। अभी इसकी मां मरी है। मेरी मां भी बूढ़ी हो गयी है। वह भी दो-चार साल में मरने वाली है। तब मैं भी मृत्युभोज करूंगा और बदला लूंगा। संयोगवश दो साल बाद उसकी मां का भी देहावसान हो गया। पहले वाला व्यक्ति तो धनवान् था। यह सामान्य स्थिति वाला था। बड़ा भोज करे, वैसी स्थिति नहीं थी। फिर भी पैसे उधार लेकर इसने भी बड़ा भोज किया। गांव के लोगों को बुलाया। वह व्यक्ति भी आया, जिसकी पहले मां मरी थी। वह अपने साथियों के साथ भोजन कर रहा था। इसने सबको तो अखंड पापड़ परोसा, किन्तु उस व्यक्ति को जानबूझकर पापड़ तोड़कर परोसा। उसने कहा — भले आदमी! तुमने ऐसा क्यों किया? अखंड पापड़ को क्यों तोड़ा? उसने कहा — क्या याद नहीं है आपको? जब आपकी मां मरी थी, तब मैं भोजन करने के लिए आया था। उस समय आपने भी मुझे टूटा हुआ पापड़ परोसा था। आज मैंने भी आपको टूटा हुआ पापड़ परोसकर उसका बदला ले लिया।

गीताकार ने कहा कि सभी प्राणियों में जो अवैर भाव वाला होता है, वह व्यक्ति परम को प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि सभी प्राणियों के साथ मैत्री करो। गीता का अवैर भाव और उत्तराध्ययन की मैत्री में बहुत समानता है। उपाध्याय विनयविजयजी शांत सुधारसभावना में मैत्री को परिभाषित करते हुए लिखते हैं **– मैत्री परेषां हितचिन्तनं यत्** अर्थात् दूसरों के हित का चिन्तन करना मैत्री है। सब सुखी हों, सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न बने, यह मैत्री की भावना है। किसी दूसरे को दुःख न हो जाये, यह भावना भी मैत्री का अंग है। जो हमसे मैत्री करता

है, हम उसके साथ मैत्री करें तो बहुत बड़ी बात नहीं है। बहुत बड़ी बात तो तब होती है, जब हमारे साथ कोई दुर्व्यवहार करे, हमारा अनिष्ट करे, उसके प्रति भी हम हित की भावना रखें।

कई लोगों का सिद्धान्त हो सकता है कि जैसे को तैसा। हमारे साथ अच्छा व्यवहार करेंगे तो हम भी उनके साथ अच्छा व्यवहार करेंगे। हमारे साथ अड़ेंगे तो हम भी उनके साथ अड़ेंगे। जबकि होना यह चाहिए कि हमारा कोई अहित भी करे तो हम वापिस उसका अहित न करें, उसका भला करें। हमारे लिए कोई कांटा बोए तो भी हम उसके लिए फूल बोएं, न कि वापिस कांटा बोकर उससे बदला लें। ऐसे उत्तम विचार जिस व्यक्ति में होते हैं, वह परम को प्राप्त हो सकता है।

पातंजल योगसूत्र में कहा गया कि जिस आदमी में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, उसकी सन्निधि में आने वाले व्यक्ति के मन का वैर भाव भी दूर हो जाता है। सर्वत्र यह बात लागू न भी हो, किन्तु बहुधा ऐसा हो भी सकता है कि एक व्यक्ति के अहिंसा के भावों से दूसरे व्यक्ति का मन भी बदल जाए, पुनीत हो जाए, अहिंसामय हो जाए। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा कि जिसमें अवैर की भावना आ गयी, मैत्री की भावना आ गयी और जो संगमुक्त हो गया, वह व्यक्ति मुझे प्राप्त हो जाता है, परम को प्राप्त हो जाता है। आदमी मैत्री-संपन्न बने, साधना सिद्ध हो सकेगी।

२७

अध्यात्मविद्या-संपन्न बनो

हमारी दुनिया में विद्या का महत्त्व है। विद्या के दो प्रकार हैं — लौकिक विद्या और अलौकिक विद्या। गृहस्थ के लिए लौकिक विद्या बहुत आवश्यक होती है। आचार्य भिक्षु ने भी गार्हस्थ्य में महाजनी विद्या सीखी थी। जिस विद्या का संबंध धनार्जन के साथ है, गार्हस्थ्य के साथ है, वह लौकिक विद्या है। जिस विद्या का संबंध आत्मा के साथ है, मोक्ष के साथ है, परलोक के साथ है या जीवन के निर्मल आचरणों के साथ है, उसे मैं अलौकिक विद्या कहता हूं। उसे अध्यात्मविद्या भी कहा जा सकता है। इस अध्यात्मविद्या को श्रेष्ठ माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया —

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।१०/३२।।

मैं विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करने वालों का तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला वाद हूं।

जो विद्याएं इस शरीर से संबंधित हैं, इस लोक तक सीमित हैं, वे लौकिक विद्याएं होती हैं। जिस विद्या का संबंध परलोक के साथ भी है उसे पारलौकिक विद्या या अलौकिक विद्या या आत्मविद्या या अध्यात्म विद्या भी कहा जा सकता है। जो गृहस्थ छात्र-छात्राएं अलौकिक विद्याओं को नहीं पढ़ते, केवल लौकिक विद्या तक ही सीमित रह जाते हैं, उनका ज्ञान तो बढ़ता है, पर उन्हें अध्यात्म का वह तत्त्व प्राप्त होना कठिन होता है, जो जीवन के लिए बहुत जरूरी होता है। अध्यात्मविद्या वह विद्या है, जो आदमी को आत्मिक शांति प्रदान करने वाली होती है, भीतरी आनन्द प्रदान करने वाली होती है।

संस्कृत साहित्य में तो यहां तक कहा गया कि अध्यात्मविद्या से जो अन्य शास्त्र हैं, उनमें कोई पारंगत हो जाता है, किन्तु अध्यात्म को बिलकुल नहीं समझता

है, आत्मसात् नहीं करता है, वह व्यक्ति क्लेश का भागी बनता है। जो अध्यात्मविद्या का वेत्ता है, अध्यात्म को आत्मसात् करने वाला है, वह आनन्द का अनुभव करता है, आत्मिक सुख का अनुभव करता है।

मेरा तो मंतव्य है कि विद्यालय-महाविद्यालय में कुछ-कुछ अध्यात्मविद्या का भी ज्ञान दिया जाना चाहिए। विद्यालयों में जो प्रार्थनाएं की जाती हैं, उनमें कुछ अध्यात्म का प्रभाव होता है। अनेक विद्यार्थी ऐसे गीत गाते हैं, जो अध्यात्म के रस से ओत-प्रोत होते हैं। उन गीतों पर भी कोई मनन करे तो उनसे भी कुछ अध्यात्म की बात प्राप्त हो सकती है।

साधु-संन्यासी यत्किंचित् प्रयास करते हैं कि जनता को अध्यात्मविद्या का ज्ञान प्राप्त हो। यह अलग बात है कि कौन व्यक्ति अध्यात्म को प्रतिपादित करने में कितना समर्थ है और कौन व्यक्ति अध्यात्म का कितना अनुभव रखने वाला है। सब साधु एक समान नहीं होते। उनमें तारतम्य होता है। यद्यपि सब गृहस्थ भी एक समान नहीं होते। उनमें भी अन्तर होता है, परन्तु अपेक्षा है कि साधु वर्ग के द्वारा आम जनता को अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त हो। दुनिया में लौकिक विद्या तो बहुत मिलती है, किन्तु अलौकिक विद्या-प्राप्ति की आशा साधु-संन्यासियों से की जाती है।

महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्म का एक प्रसंग है। बुद्ध एक गुरुकुल में पढ़ने जाते थे। वहां अनेक विद्यार्थी आते। गुरुजी केवल लौकिक विद्या ही नहीं पढ़ाते, अलौकिक या अध्यात्मविद्या का भी कुछ ज्ञान विद्यार्थियों को दिया करते थे। एक दिन गुरुजी ने कहा — प्यारे विद्यार्थियो! आज का तुम्हारा पाठ है कि परमात्मा होता है। वह सब जगह देखता है। ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसको परमात्मा नहीं देखता है। परमात्मा से छुपकर हम कोई काम नहीं कर सकते। गुरुजी ने अध्यात्मविद्या का एक सिद्धान्त बता दिया। कुछ दिनों बाद गुरुजी ने सोचा कि मैंने मौखिक रूप से बच्चों को बात बता दी और बच्चों ने सुन भी ली, पर इसके मर्म को इन्होंने आत्मसात् किया या नहीं, इसका परीक्षण करना चाहिए।

एक दिन गुरुजी ने कहा — प्यारे विद्यार्थियो! मेरी पुत्री की शादी होने वाली है। क्या तुम लोग अपनी बहन की शादी के लिए कुछ दान-दक्षिणा दोगे?

बच्चों ने कहा — हां गुरुजी! अवश्य देंगे।

गुरुजी ने कहा — तुम जो पैसा लाओ, वह इस प्रकार लाना कि तुम्हें कोई देख न ले।

विद्यार्थी – ठीक है गुरुजी।

अब सब इस अवसर की खोज में लग गए कि कब मौका मिले, माता-पिता न देखें और हम पैसा उठा लें। अगले दिन पुनः विद्यार्थी गुरुकुल में आये।

गुरुजी – कल मैंने जो कहा था वह याद है ?

विद्यार्थी – हां गुरुजी।

गुरुजी – क्या पैसा लाये हो ?

विद्यार्थी – हां लाए हैं।

गुरुजी – एक-एक विद्यार्थी क्रमशः आओ और जो पैसा लाए हो, वह इस मेज के ऊपर रख दो।

विद्यार्थी आते गये और पैसा मेज पर रखते गये। अंतिम नंबर बुद्ध का था। उसके पास कुछ भी नहीं था।

गुरुजी – तुम कुछ नहीं लाये ?

बुद्ध – गुरुजी ! मैं कुछ नहीं लाया।

गुरुजी को भीतर से तो कुछ शांति मिली कि एक विद्यार्थी तो ऐसा है, जिसने सिद्धांत को समझा है।

गुरुजी – तुम क्यों नहीं लाए ?

बुद्ध – गुरुदेव ! आपका आदेश था कि कोई नहीं देखे तब पैसा उठाना है। मैं जैसे ही पैसे उठाने लगा, मुझे याद आ गया कि कुछ दिनों पूर्व आपने ही बताया था कि परमात्मा सब जगह देखते हैं, सबको देखते हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, कोई व्यक्ति नहीं, जहां और जिसको परमात्मा नहीं देखते। तब मैंने सोचा कि मैं अगर घर से पैसे उठाऊंगा तो भले मां-पिताजी न देखें, किन्तु परमात्मा तो देखेंगे ही, इसलिए गुरुदेव ! मैं पैसे नहीं लाया। गुरुजी को बहुत खुशी हुई कि एक विद्यार्थी तो मुझे मिल गया जो सिद्धान्त को आत्मसात् करने वाला है। यह अध्यात्मविद्या का संदेश था।

मुझे विश्वास है कि आज भी विद्यालयों, महाविद्यालयों में शिक्षक विद्यार्थियों को ऐसी बातें बताते होंगे। सौ विद्यार्थियों में एक विद्यार्थी भी ऐसी बात ग्रहण कर लेता है तो भी बहुत अच्छी बात है। आदमी अध्यात्मविद्या को समझने का और फिर आत्मसात् करने का प्रयास करे। अध्यात्मविद्या-संपन्न व्यक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

२८

समबुद्धि-संपन्न बनो

मनुष्य शरीरधारी प्राणी है। न केवल मनुष्य अपितु हर प्राणी शरीरधारी होता है। शरीरधारी प्राणी शरीर को टिकाना चाहता है। उसे शरीर के पोषण के लिए अनेक प्रवृत्तियां करनी होती हैं। जहां प्रवृत्ति है, वहां बंधन की भी संभावना रहती है। यह समस्या है कि प्रवृत्ति को छोड़ना भी संभव नहीं होता और आदमी बंधन से बचना भी चाहता है। इस समस्या का समाधान विभिन्न धर्मग्रंथों में अनेक रूपों में प्राप्त होता है। जब तक बंधन होता रहता है, तब तक आदमी परमात्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रश्न हुआ, परमात्मा की प्राप्ति या आत्मा का दर्शन किसे संप्राप्त हो सकता है? इस विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया —

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।१२/४।।

इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार वश में करने वाले, सम्पूर्ण भूतों के हित में रत और सबमें समान भाव वाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे व्यक्ति मुझे प्राप्त होते हैं या परमात्मा को प्राप्त होते हैं, जो इन्द्रियग्राम का नियमन करके समबुद्धि वाले बन जाते हैं। इन्द्रियों का संयम किए बिना समबुद्धि वाला नहीं बना जा सकता। इन्द्रिय-विषयों में राग-द्वेष है तो फिर वह विषमबुद्धि वाला बन जाता है, इसलिए गीताकार ने कहा कि समबुद्धि बनना है तो पहले इन्द्रिय-समूह का संयम करना होगा। हम कान से सुनते हैं। मनोज्ञ शब्द सुनने से राग हो और अमनोज्ञ शब्द सुनने से द्वेष हो तो मान लेना चाहिए कि समबुद्धि नहीं

है। देखने में कोई आकर्षक रूप आ गया तो आसक्ति हो गयी और कोई बीभत्स रूप आ गया तो मन में घृणा का भाव आ गया, इसका मतलब समबुद्धि नहीं है। सुगंध आने से प्रियता और दुर्गंध आने से अप्रियता या घृणा का होना समबुद्धि का लक्षण नहीं है। खाने में जो भोजन जिसके लिए प्रिय है, वह भोजन मिलने पर राग आ गया और अप्रिय भोजन मिलने पर द्वेष आ गया तो समझना चाहिए समबुद्धि नहीं है। सर्दी के मौसम में अनुकूल गरम स्पर्श होने पर राग आ गया और ठंडा स्पर्श होने पर द्वेष आ गया तो समबुद्धि नहीं रही। हमारे मन के अनुकूल हो या प्रतिकूल, सबके प्रति समता रहे। इन्द्रिय-विषयों के प्रति प्रियता-अप्रियता का भाव न आये तो समबुद्धि की स्थिति हो सकती है।

हस्तशीर्ष नामक नगर में बड़ा शूरवीर और विक्रान्त राजा दमदन्त राज करता था। पड़ोस में ही हस्तिनापुर नगर में पाण्डव प्रमुख युधिष्ठिर और कौरव प्रमुख दुर्योधन राज्य करते थे। दोनों राज्यों के बीच शत्रुता थी। फलस्वरूप दोनों राज्यों की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। उस युद्ध में कौरव-पाण्डव पराजित हुए। एक दिन राजा दमदन्त राजगृह नगर में प्रतिवासुदेव जरासंध की सेवार्थ अपनी सेना सजाकर ले गया। पीछे से पाण्डव-कौरव ने हस्तशीर्ष नगर पर आक्रमण कर दिया और गांवों को लूटकर तबाह कर दिया। इस विनाश की सूचना राजा दमदन्त के पास पहुंची। उसी समय दमदन्त, जरासंध से आज्ञा लेकर अपने राज्य में लौट आया। आते ही उसने पाण्डवों-कौरवों के साथ युद्ध प्रारंभ कर दिया। इस बार भी पाण्डव-कौरव पराजित होकर भाग खड़े हुए। उन्होंने हस्तिनापुर के दुर्ग में जाकर शरण ली। राजा दमदन्त ने मैदानी युद्ध में जीतने के बाद बहुत दिनों तक उनके दुर्ग को घेरे रखा, किन्तु वे दुर्ग से बाहर नहीं निकले। तब राजा दमदन्त उनका मान मर्दन कर विजयी होकर अपनी नगरी में लौट आया।

अनेक वर्षों तक राज्य करने के बाद राजा दमदन्त ने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर ली। कालान्तर में राजर्षि दमदन्त अनेक गांवों, नगरों में विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर में पधारे। वे नगर के बाहर उद्यान में कायोत्सर्ग कर रहे थे। उसी समय पाण्डव वन क्रीड़ा के लिए उधर से जा रहे थे। उन्होंने राजा दमदन्त को साधु वेश में देखकर उनके प्रति विनयभाव प्रकट करते हुए, वन्दन नमस्कार किया और आगे चले गए। कुछ देर बाद कौरव भी उधर से गुजरे। उन्होंने दमदन्त को शत्रु समझकर उसके चारों ओर एक दीवार सी बनवा दी। राजर्षि को कैद-सा कर दिया।

कुछ समय बाद पाण्डव जब वन क्रीड़ा कर वापिस लौट रहे थे, तब मुनि की यह दुर्दशा देखकर उन्हें मानसिक कष्ट हुआ। उन्होंने मुनि को कैद से मुक्त कर दिया। उस दीवार को हटा दिया।

राजर्षि दमदन्त के मन में न कौरवों के प्रति द्वेष-भाव आया और न पाण्डवों के प्रति राग-भाव आया। वे दोनों स्थितियों में समभाव में रहे, समबुद्धि रहे।

श्रीकृष्ण ने कहा कि जो सब जगह समबुद्धि वाले होते हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

जिनके मन में सभी प्राणियों के प्रति हित-भावना होती है, किसी का बुरा नहीं सोचते। वे व्यक्ति भी परमात्मा को प्राप्त होते हैं। आदमी के मन की भावना क्या है? यह आमतौर से दूसरों को ज्ञात नहीं होती है। कभी-कभी आदमी ऊपर से मीठा बोलता है, मधुर व्यवहार दिखाता है, पर भीतर में उसके अहित की योजना बनाता है। ऊपर से मीठा बोलना व भीतर में छुरी रखना भयंकर छलना होती है।

दुनिया में कुछ लोग ऐसे भी मिल सकते हैं जो किसी से द्वेष नहीं करते, किसी का बुरा नहीं चाहते, यथासंभव दूसरों का भला करने का ही प्रयास करते हैं। जिस आदमी में ऐसी करुणा, दया, अनुकम्पा होती है, वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

प्रेय और श्रेय दो शब्द हैं। प्रिय होना अलग बात है और हितकर होना अलग बात है। कहा भी गया है—

दुर्जन की किरपा बुरी, भली सज्जन की त्रास।
बादल बण गरमी करै, जद बरसण की आस।।

सज्जन आदमी कभी कुछ उलाहना देता है, वह भी हितकारी बन सकता है और दुर्जन आदमी की कृपा भी अहितकर हो सकती है।

सज्जन लोग झटपट तो गुस्सा करते नहीं हैं। गुस्सा कभी कर भी लें तो उनका गुस्सा लंबे काल तक टिकता नहीं है। यदि कभी टिक भी जाए तो मानना चाहिए कि उनका गुस्सा हित करने वाला होगा। इसी तरह सामान्यतया दुर्जन आदमी अच्छा व्यवहार नहीं करता है। कभी वह स्नेहिल व्यवहार कर भी ले तो लम्बे समय तक टिकता नहीं। टिक भी जाए तो मानना चाहिए कि इसमें भी कोई बुरी चाल हो सकती है। दुर्जनों का स्नेह भी खराब हो सकता है और सज्जनों की त्रास भी हितकारी हो सकती है।

गुरु या बड़ों का उलाहना हमारे हित के लिए होता है। हम उसे बुरा न मानें। उसे अच्छे रूप में लेते हैं तो बड़ों की वह सीख परिष्कार करने वाली हो सकती है, हमारा कल्याण करने वाली बन सकती है। गीताकार ने कहा — जो दूसरों के प्रति हितैषी होता है, वह व्यक्ति मुझे ही प्राप्त होता है। इन्द्रियों का संयम करने वाला, सब स्थितियों में सम रहने वाला और सभी प्राणियों के प्रति हित चिन्तन करने वाला परमात्म रूप को प्राप्त हो जाता है अथवा आत्मा का दर्शन प्राप्त कर लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया —

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कयाइ।

न याऽमणुण्णेसु मणं पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी ।।३२/२१ ।।

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियों के जो मनोज्ञ विषय हैं, उनमें राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय हैं, उनमें द्वेष न करे अर्थात् समबुद्धि-संपन्न व्यक्ति ही समाधि को प्राप्त कर सकता है।

गीता में भी यही कहा गया कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों का संयम, समता-बुद्धि का अभ्यास और सबके प्रति हितैषी भाव का होना अपेक्षित है।

२९

शान्ति-संपन्न बनो

आदमी में शांति की आकांक्षा देखी जाती है और शांति की प्राप्ति के लिए वह प्रयास भी करता है। शांति दो तरह की होती है। एक परिस्थितिजन्य शान्ति और दूसरी सहज शांति।

१. परिस्थितिजन्य शांति — आदमी को इच्छानुरूप कुछ प्राप्त हो जाता है तो एक बार मन में सुख मिल सकता है, शांति मिल सकती है, किन्तु ज्यों ही वह संयोग दूर हो जाता है या वियोग में बदल जाता है तो मन में दुःख हो जाता है, ऐसी शांति परिस्थितिजन्य शांति होती है।

२. सहज शांति — कोई भी स्थिति आ जाए, उसमें आदमी का मन शांत रहता है तो उसे सहज शांति कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता का निम्नलिखित श्लोक शांति और तरतमता की स्थिति का बोध कराने वाला है। वहां कहा गया है —

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२/१२।।

मर्म को न जानकर किए हुए अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से मुक्त परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्याग से तत्काल परम शांति होती है।

इस श्लोक में पांच चीजें बताई गई हैं —

१. अभ्यास २. ज्ञान ३. ध्यान ४. कर्मफलत्याग ५. शांति।

यहां क्रमशः एक से दूसरे को श्रेष्ठ माना गया है। सबसे पहली बात है—अभ्यास। अभ्यास से ज्ञान अच्छा होता है। एक व्यक्ति आसन, प्राणायाम करना चाहता है, पर आसन, प्राणायाम की विधि नहीं जानता है। इस स्थिति में कहीं कोई गड़बड़ भी हो सकती है। उसका आसन करने का जो ज्ञानशून्य अभ्यास है, उस अभ्यास की अपेक्षा आसनों का ज्ञान होना ज्यादा अच्छा है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—**नाणेण जाणई भावे** अर्थात् ज्ञान के द्वारा आदमी पदार्थों को जानता है। ज्ञान नहीं है तो बहुत बड़ी कमी है।

लाटोती में खरतरगच्छ के श्रीपूज्य जिनचंदसूरि आए। उनके पास उपाश्रय में अनेक लोग बैठे थे। वे तत्त्वों की व्याख्या कर रहे थे। उसी संदर्भ में 'आश्रव' का उल्लेख आया। वे बोले — आश्रव अजीव है।

वहां आचार्य भिक्षु के शिष्य चैनजी श्रीमाल उपस्थित थे। उन्होंने कहा — श्रीजी महाराज! आश्रव तो जीव है।

श्रीपूज्य — आश्रव अजीव है।

चैनजी — नहीं, आश्रव जीव है।

श्रीपूज्य — आपने गलत धारणा बना रखी है।

चैनजी — गलत धारणा मैंने नहीं, आपने बना रखी है।

श्रीपूज्य — हम लोग इसकी चर्चा बाद में करेंगे।

व्याख्यान समाप्त होने पर लोग अपने-अपने घर चले गए। श्रीपूज्य ने चर्चावादी, सिद्धान्तों के ज्ञाता यतियों को बुलाकर कहा — सूत्रों में देखो कि आश्रव जीव है या अजीव?

सूत्रवादियों ने सूत्र देखने के बाद श्रीपूज्य से कहा — सूत्र के अनुसार तो आश्रव जीव है।

तब श्रीपूज्य ने चैनजी को बुलाया और उनसे कहा — मैं मिच्छामि दुक्कडं करता हूं। आपसे क्षमायाचना करता हूं। अभी तो आपको यों ही कह रहा हूं, परन्तु वास्तविक क्षमायाचना तो कल उपस्थित श्रोता-परिषद् के बीच करूंगा।

दूसरे दिन प्रातःकालीन प्रवचन में श्रोताओं के बीच श्रीपूज्य बोले — चैनजी!

मैंने कल आश्रव को अजीव बतलाया था और तुमने उसे जीव बतलाया था। अतः तुम सच्चे हो और मैं झूठा हूं। मैं मिच्छामि दुक्कडं करता हूं। तुमसे क्षमायाचना करता हूं।

तेरापंथी श्रावक ने अपने तत्त्वज्ञान को दृढ़ता के साथ बताया, यह उनकी विशेषता थी। सत्य को स्वीकार करना श्रीपूज्य की विशेषता थी। मूल बात है कि ज्ञान का बड़ा महत्त्व है, किन्तु ध्यान की उच्च भूमिका तो ज्ञान से भी श्रेष्ठ है। ज्ञान करते-करते ध्यान की अवस्था आ जाए, बिल्कुल स्थिरता और निर्विकल्पता की स्थिति आ जाए तो वह ज्ञान से भी विशेष होती है। ध्यान में जो एकाग्रता होती है, वह कर्म काटने का महत्त्वपूर्ण उपाय बन जाती है।

कोई व्यक्ति ज्ञान ध्यान करता है, परंतु भीतर से त्याग व संयम की चेतना का जागना उससे भी अधिक अच्छा है। कर्म करने के बाद उसके भौतिक फल की आकांक्षा न रखना त्याग है। त्याग को ध्यान से भी ज्यादा अच्छा माना गया है।

त्याग से आदमी को शांति मिलती है। जितना-जितना हम त्याग करेंगे, उतनी-उतनी हमें शांति मिलेगी। त्याग शांति का एक कारण बनता है, जैसे—हमने गुस्से का त्याग कर दिया तो शांति मिलेगी। हमने अहंकार, माया, छलना का त्याग कर दिया तो शांति मिलेगी यानी त्याग करने से शांति मिलती है।

गीता में कहा गया कि ज्ञानशून्य अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान ज्यादा अच्छा है। ज्ञान से ध्यान विशिष्ट होता है। ध्यान से कर्म-फल का त्याग करना अच्छा होता है, क्योंकि त्याग करने से तत्काल शांति मिलती है। ऐसा नहीं होता कि आज त्याग किया और शांति बाद में मिलेगी। त्याग से बिना विलंब और बिना व्यवधान के आदमी को शांति मिल जाती है। आदमी यह सोचे कि साधना के क्षेत्र में अभ्यास का महत्त्व है, पर उससे ज्यादा अच्छा है कि मैं ज्ञानपूर्वक अभ्यास करूं। ज्ञान करते-करते ध्यान की उच्च भूमिका को प्राप्त करूं। ध्यान से भी आगे मेरी त्याग की चेतना पुष्ट हो, क्योंकि त्याग से परम शांति को प्राप्त किया जा सकता है और शांति-संपन्न व्यक्ति ही साधना-शिखर पर आरोहण कर सकता है।

३०

सर्वप्रिय बनो

प्रश्न किया गया कि आदमी बड़ों का प्रिय या सर्वप्रिय कैसे बन सकता है? समाधान मिला, आदमी में कुछ विशेषताएं ऐसी होती हैं, जिससे वह दूसरों के लिए रुचिकर और सम्मान का पात्र बन जाता है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में एक पूरा प्रकरण है। उसमें श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिस व्यक्ति में अमुक-अमुक विशेषताएं होती हैं, वह मेरा भक्त है और मुझे प्रिय है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१२/१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२/१४।।

जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

सबसे पहली विशेषता यह बताई गई है कि जो व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति अद्वेष भाव रखता है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से घृणा नहीं करता, किसी जाति को लेकर, आम्नाय को लेकर, वेशभूषा को लेकर, परिवेश को लेकर, जो किसी से भी द्वेष नहीं रखता, वह मेरे लिए रुचि का पात्र बन जाता है, मेरा प्रिय भक्त बन जाता है। एक व्यक्ति के प्रति राग होता है तो कभी दूसरे के प्रति द्वेष हो जाता है। कभी जाति

आदि को लेकर घृणा का भाव भी पैदा हो जाता है। भले जाति को लेकर हो या किसी तथ्य को लेकर हो, यदि घृणा का भाव है तो समझना चाहिए कि भीतर में द्वेष का भाव है। होना तो यह चाहिए कि हमारा कोई नुकसान कर दे, हमारा कोई अपमान कर दे तो भी उसके प्रति हमारे मन में द्वेष भाव न आए, यह साधना साध्य स्थिति होती है।

द्वेष न करना एक बात है, किन्तु साथ में मैत्री का भाव रखना विशेष बात है। अद्वेष तो एक प्रकार से निषेधात्मक अहिंसा के रूप में आ गया। विधायक रूप में कहा गया कि मैत्री का व्यवहार करो। गीताकार ने कहा – किसी के प्रति द्वेष का भाव मत रखो। सब प्राणियों के प्रति मैत्री का भाव रखो। आदमी में अद्वेष, मैत्री और साथ में करुणा का भाव रहे। आदमी यह चिन्तन करे कि जो दुःखी हैं, वे दुःख-मुक्त हो जाएं और चित्त-समाधि को प्राप्त करें। ठीक कहा गया –

दया दया सहु को कहे, दया धरम छै ठीक।
दया ओलख न पालसी, त्यांनै मुगत नजीक।।

दया के दो प्रकार हैं – लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक दया वहां होती है, जहां किसी दुःखी प्राणी के दुःख को दूर करने का प्रयास किया जाता है, भले वह कैसा भी आदमी क्यों न हो। यदि वह भूखा है तो करुणाशील आदमी सोचता है कि इसका भी पेट भर जाए। यदि वह प्यासा है तो दयावान् आदमी सोचता है कि इसकी भी प्यास बुझ जाए। भूखे को भोजन कराना और प्यासे को पानी पिलाना आदि लौकिक दया है। पाप से अपने आपको बचाना और किसी की आत्मा का कल्याण करने का प्रयास करना लोकोत्तर दया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह व्यक्ति मुझे प्रिय है, जो करुणाशील है, जो किसी को दुःख नहीं देता।

जो मोह-माया में फंसा हुआ है, ममता के बंधन से बंधा हुआ है, वह मुझे इष्ट नहीं है। वह मेरी कृपा का पात्र नहीं बनता, मेरे सम्मान का पात्र नहीं बनता। राजा ने संन्यासी से कहा – संन्यासीजी! आप मुझे एक सप्ताह तक कथा सुनाएं, जिससे मुझे वैराग्य उत्पन्न हो जाए। एक सप्ताह तक व्यासजी ने कथा का उपदेश दिया। व्यासजी ने सोचा कि मुझे अच्छी दान-दक्षिणा मिलेगी, किन्तु राजा ने कहा – व्यासजी! आपको दान-दक्षिणा किस बात की दूं? मैंने तो कथा इसलिए कराई थी कि मुझे वैराग्य आ जाए, किन्तु मुझे तो वैराग्य आया ही नहीं। मुझे तो ऐसी कथा सुनाओ, जिससे मुझे वैराग्य आ जाए और मैं बंधनों से मुक्त हो जाऊं। उसी समय नारदजी वहां पहुंच गए। उन्होंने देखा कि व्यासजी दक्षिणा के लिए कह रहे हैं और राजाजी मना कर रहे हैं। दोनों में विवाद-सा हो रहा है।

नारदजी ने पूछा — महाराज! आप दोनों में विवाद किस बात का हो रहा है? राजा ने कहा — नारदजी! मैंने व्यासजी को कहा था कि एक सप्ताह तक कथा सुनाओ ताकि मुझे वैराग्य आ जाए। व्यासजी ने एक सप्ताह तक कथा भी सुनाई, लेकिन मुझे वैराग्य नहीं आया, तब मैं इनको किस बात की दक्षिणा दूं? नारदजी ने दो रस्सियां मंगवाई। एक रस्सी से कथाकार को बांध दिया और एक रस्सी से राजा को बांध दिया। फिर राजा से कहा — राजन्! व्यासजी तो आपके गुरु हैं, इनके बंधन को खोल दीजिए और इनको मुक्त कर दीजिए।

राजा ने कहा — नारदजी! मैं तो स्वयं बंधा हुआ हूं। मैं इन्हें मुक्त कैसे कर सकता हूं?

नारदजी ने व्यासजी से कहा — व्यासजी! राजा तो आपका श्रोता था। आप इनके बंधन को खोल दीजिए। व्यासजी बोले — मैं भी नहीं खोल सकता, मैं तो स्वयं बंधा हुआ हूं। नारदजी ने कहा —

बांध्या सू बांध्या मिल्या, किण विध देय छोड़ाय।
कर संगत निर्बन्ध की, पल में देह छोड़ाय।।

आप दोनों ही बंधे हुए हैं, इसलिए एक-दूसरे को छुड़ा नहीं सकते। ये व्यासजी कंचन-कामिनी के बंधन से बंधे हुए हैं और राजन्! आप भी बंधन से बंधे हुए हैं। स्वयं बंधा हुआ आदमी दूसरे बंधे हुए आदमी को कैसे मुक्त कर सकता है? अगर मुक्त होना है तो निर्बन्ध की संगत करनी होगी। नारदजी ने तत्काल दोनों के बंधन खोल दिए और कहा — मैं बंधन से मुक्त हूं, इसलिए मैंने तुम दोनों को खोल दिया। जो निर्बन्ध हैं, कंचन-कामिनी के त्यागी हैं, मोह माया के त्यागी हैं, उनकी संगत करने से वैराग्य भाव पैदा हो सकता है।

श्रीकृष्ण ने कहा — जो ममता के बंधन से मुक्त है, वह भक्त मुझे इष्ट है। जो अहंकार से रहित है, जो सुख-दुःख में सम रहने वाला है और जो क्षमावान् है। किसी ने बुरा कर दिया, उसे भी जिसने क्षमा का दान दे दिया, वह क्षमी आदमी मुझे इष्ट है।

मनुष्य अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाने के लिए यह सोचे कि जब तक मैं सक्षम हूं, इस शरीर से कुछ कर सकता हूं, तब तक कुछ करूं। अपने शरीर के द्वारा, अपनी शक्ति के द्वारा अपना भला करूं और हो सके तो दूसरों का भी कल्याण करूं। आदमी के सामने दो चीजें है — रूप और गुण। रूप और गुण में से चुनाव करना हो तो आदमी को गुण का चुनाव करना चाहिए। गुण के बिना मात्र रूप किस काम का?

राजा और मंत्री परस्पर चर्चा-वार्ता कर रहे थे। रूप और गुण का प्रसंग चल पड़ा।

मंत्री – महाराज! रूप का अपना महत्त्व होता है, परन्तु रूप से भी ज्यादा गुण का महत्त्व होता है।

राजा के दिलोदिमाग में यह बात जची नहीं।

राजा – ऐसी क्या बात है? गुण का महत्त्व है तो रूप का भी कोई कम महत्त्व नहीं है।

मंत्री – महाराज! मैं अभी प्रमाणित कर देता हूं कि गुण का ज्यादा महत्त्व है या रूप का?

गर्मी का मौसम था। मंत्री ने सोने के घड़े में से एक गिलास पानी मंगवाया। कर्मचारी पानी लेकर आया और मंत्री ने उसे राजा के सामने पेश किया। राजा ने पानी का एक घूंट लिया और कहा – यह पानी तो गरम है। फिर मंत्री ने मिट्टी के घड़े का पानी मंगवाया और राजा के सामने पेश किया। राजा ने पूरा पानी पीकर कहा – यह पानी शीतल है।

मंत्री – महाराज! सोने का घड़ा सुन्दर था, रूपवान् था, फिर आपने उसका पानी क्यों नहीं पीया?

राजा – मंत्री! उस पानी में प्यास बुझाने का गुण नहीं था, इसलिए मैंने नहीं पीया।

सर्वप्रथम गुण का महत्त्व होता है। रूप का महत्त्व तो नम्बर दो पर आता है। किसका रूप कितना बढ़िया है या कितना घटिया है, यह तो बाद की बात है। पहले यह सोचें कि किसमें कितने गुण हैं। मनुष्य यह चिन्तन करे कि मेरे जीवन में गुणों का विकास हो रहा है या नहीं। अगर भीतर में ईमानदारी का गुण है, कर्त्तव्यनिष्ठा का गुण है, अहिंसा का गुण है, सेवाभावना का गुण है, तब तो जीवन की उपयोगिता है। यदि चेहरा सुन्दर है और भीतर में कोई गुण नहीं है, बल्कि बेईमान है, भ्रष्ट है, अशिष्ट है, हिंसक है, झगड़ालू है तो रूप किस काम का?

एक पहरेदार सेठ के पास आया और बोला – सेठजी! मैंने सुना है कि आप आज सायं की ट्रेन से मुम्बई जा रहे हैं?

सेठ – हां, जा रहा हूं।

पहरेदार – मैं एक निवेदन करना चाहता हूं। कल रात मैंने सपने में देखा कि आप जिस ट्रेन से मुम्बई जा रहे हैं, वह दुर्घटनाग्रस्त हो गई। मेरा सपना कभी-कभी सच भी होता है, इसलिए आप कृपा करके उस ट्रेन से मत जाइए। सेठजी ने पहरेदार की बात मान ली और टिकट कैन्सिल करवा दी। दूसरे ही दिन न्यूजपेपर के प्रथम पृष्ठ पर न्यूज थी कि मुम्बई जाने वाली ट्रेन का एक्सीडेंट हो गया है। उसमें कई लोग मारे गए और कइयों की स्थिति गंभीर है। सेठजी ने पहरेदार को बुलाया और कहा – भैया! तुमने बड़ा अच्छा काम किया। तुमने कल मुझे जाने से रोका, इसलिए मैं बच गया। यदि मैं उस ट्रेन से जाता तो पता नहीं मेरा क्या हाल होता? तुमने मुझे बचाया, इसलिए एक हजार रुपये मैं तुम्हें पुरस्कार के रूप में देता हूं। पुरस्कार देने के बाद सेठजी ने कहा – मैं तुम्हें हमेशा के लिए नौकरी से बर्खास्त करता हूं।

पहरेदार – सेठजी! नौकरी से छुट्टी क्यों कर रहे हो?

सेठजी – भैया! मैंने तुमको रात को पहरा देने के लिए रखा था, न कि नींद लेने और सपना देखने के लिए। तुम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गए।

मनुष्य कितना कर्त्तव्यनिष्ठ है, उसका गुणात्मक पक्ष कितना मजबूत है, यह ध्यान देने की बात है। हमारे जीवन के अनेक गुणात्मक पक्ष हो सकते हैं, किन्तु चरित्र की निर्मलता जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि होती है। जो व्यक्ति ईमानदार होता है, ईमानदारी का सूक्ष्मता से जागरूकतापूर्वक पालन करता है, उसकी चेतना भी उज्ज्वल बन जाती है। जिस आदमी का जीवन जितना निर्मल और उज्ज्वल होता है, उसकी अगली गति भी अच्छी होने की संभावना रहती है।

हमारे जीवन के गुणात्मक पहलू को ऊंचा बनाने के लिए आदमी की तीसरी आंख जागृत हो और चरित्रनिष्ठा का विकास हो। जो आदमी अनीति के रास्ते पर चलता है, उसका बीच में ही पतन हो जाता है। इसलिए व्यक्ति सही-गलत व अच्छे-बुरे का विवेक रखता हुआ अपने गुणात्मक पक्ष को मजबूत बनाने का प्रयास करे। गुणी व्यक्ति सबका प्रिय बन सकता है।

३१

संतता-संपन्न बनो

सामान्य आदमी के भीतर राग की प्रकृति भी होती है और द्वेष की प्रकृति भी विद्यमान रहती है। इस संदर्भ में मनुष्यों को दो भागों में बांटा जा सकता है— सराग मनुष्य और वीतराग मनुष्य। सराग मनुष्य यानी जिसमें राग-द्वेष है और वीतराग मनुष्य यानी जिसमें राग-द्वेष नहीं है। जैन तत्त्वविद्या में कहा गया है — बंधन दो प्रकार का होता है — ईर्यापथिक बंधन और साम्परायिक बन्धन। वीतराग पुरुष के ईर्यापथिक बंधन होता है और सराग व्यक्तियों के साम्परायिक बंधन होता है। ईर्यापथिक बंधन दो समय की स्थिति वाला और केवल सातवेदनीय कर्म का होता है। साम्परायिक बंधन लम्बे काल की स्थिति वाला और पुण्य-पाप का बंधन करने वाला होता है। जो राग और द्वेष दोनों से मुक्त हो गया, वह महापुरुष या सिद्धपुरुष होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है —

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।१२/१५ ।।

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे वह व्यक्ति इष्ट है, जिससे कोई डरता नहीं है, जो सबके लिए अभयदाता है और न वह स्वयं किसी से डरता है। बहुत ऊंची बात है, न तो दूसरों को उद्विग्न बनाना और न स्वयं उद्विग्न बनना। साधु के लिए कहा गया कि वह छहकाय के जीवों का पीहर यानी पितृघर के समान होता है। पृथ्वीकाय, अप्काय

आदि षड्जीवनिकाय के जीवों को अभयदान देने वाला होता है, क्योंकि साधु अहिंसा का साधक, अहिंसा का पुजारी होता है। संत तुलसीदासजी कहते हैं –

तनकर मनकर वचनकर, देत न काको दुःख।
तुलसी पातक झड़त है, देखत ताको मुक्ख।।

जो व्यक्ति अपने शरीर से, मन से, वाणी से किसी को दुःख नहीं देते, ऐसे व्यक्तियों का श्रद्धा से मुखावलोकन करने से भी पापकर्म शिथिल होता है।

साधु को तो अभयदाता कहा गया है, त्राता कहा गया है। वह किसी को दुःखी नहीं बनाता। साधु को कोई दुःख दे तो वह वापस उसे तकलीफ देने का प्रयास न करे, उसकी बराबरी न करे। उस समय यह सोचे कि यह कोई नादान आदमी है, जिसने मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है। मैं अब इसके साथ बुरा व्यवहार न करूं। मैं अपनी संतता का परिचय दूं। बिच्छु ने अनेक बार महात्मा के हाथ में डंक लगा दिया, पर महात्मा ने उसे पानी से निकालने का ही प्रयास किया और आखिर उसको पानी से निकाल ही दिया। यदि महात्मा यह सोच लेता कि इसने मुझे डंक लगा दिया, अब मैं भी इसको मारूंगा तो यह चिन्तन एक संत-महात्मा के लिए उचित नहीं होता। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है **– महप्पसाया इसिणो हवंति** अर्थात् जो ऋषि होते हैं, वे महान प्रसाद वाले होते हैं। मुनि कभी आक्रोश और गुस्से में तत्पर नहीं होते। यह संत की संतता होती है।

मेरी दृष्टि में जो शांत होता है, वह संत होता है। जिसका गुस्सा शांत है, अहंकार शान्त है, माया शान्त है, लोभ शान्त है, वह संत है। जो शांत नहीं रहता, वह या तो संत नहीं है या उसकी संतता में कमी है।

एक बार एक युवक ने अपना संस्मरण लिखा – कुछ साल पहले तक मुझे गुस्सा आता था। हालांकि मेरी उम्र तब चौदह साल की थी, लेकिन मेरे गुस्से का किसी उम्र, किसी के लिहाज या अवसर की नजाकत से कोई तालुक नहीं होता था। एक बार मेरे पापा ने मुझे कीलों से भरा हुआ एक बैग दिया और कहा – जब भी तुम्हें गुस्सा आए, तब इनमें से एक कील पिछवाड़े वाले बगीचे के लकड़ी के गेट में ठोक देना।

पहले दिन ३७ कीलें ठोकीं। अगले दिन गिनती २७ पर आई, फिर २०,१५....और इस तरह कीलों की गिनती में गिरावट आती गई। मुझे लगा कि

कील ठोकने से तो अच्छा है कि गुस्सा ही न किया जाए। धीरे-धीरे मैंने गुस्से पर काबू पा लिया।

एक दिन ऐसा आ गया, जब मैंने एक भी कील नहीं ठोकी। मैंने पापा को बताया। वे बहुत खुश हुए। अब उन्होंने कहा कि जिस दिन तुम बिल्कुल भी गुस्सा न करो, उस दिन इन ठोकी हुई कीलों में से एक-एक कील निकालते जाना। मैंने ऐसा ही किया और जल्दी ही सारी कीलें बाहर आ गईं। पापा मुझे उस गेट के पास ले गए।

उन्होंने गेट के ऊपर बने कीलों के निशानों पर हाथ रखते हुए कहा – बेटा! यद्यपि तुमने कीलें तो निकाल ली हैं, पर ये निशान तुम नहीं मिटा सकते। गुस्से में कहे गए शब्दों से भी दिलों पर ऐसे ही निशान रह जाते हैं, जो लाख बार माफी मांगने और पश्चात्ताप करने पर भी नहीं मिटते हैं।

गीता में बड़ा सुन्दर कहा गया कि जो साधक-पुरुष हर्ष, अमर्ष यानी क्रोध और भय – इन तीनों से मुक्त रहता है, वह न स्वयं उद्विग्न होता है और न दूसरों को उद्विग्न बनाता है। हम अपने बारे में ध्यान दें कि ये तीनों चीजें – हर्ष, अमर्ष और भय हमारे भीतर कितनी मात्रा में हैं? ये ज्यादा हैं या कम हैं या मध्यम स्थिति वाले हैं? कोई हमारी प्रशंसा कर देता है तो क्या हमें हर्ष नहीं होता है? कोई हमारा अपमान कर दे तो क्या हमें अमर्ष नहीं आता? रात को अंधेरे में अकेले रहना हो तो क्या हमें डर नहीं लगता? भय यथार्थ की साधना में बाधा है। भयभीत आदमी मृषावाद का भी प्रयोग कर लेता है। भयभीत आदमी हिंसा में भी प्रवृत्त हो जाता है, इसलिए अहिंसा की साधना करने के लिए, यथार्थ की आराधना के लिए अभय की साधना करना आवश्यक होता है। हमारे में न गुस्सा जागे, न भय का भाव जागे और न ज्यादा खुशी का भाव जागे। साधक संतता से संपन्न बनने का प्रयास करे। यह वीतरागता की स्थिति का नमूना या वीतरागता की स्थिति होती है। श्रीकृष्ण ने कहा – अगर मेरा कृपापात्र बनना है तो मात्र मेरा नाम जपना ही पर्याप्त नहीं है। हर्ष, अमर्ष और भय से मुक्त होना आवश्यक है। ये विशेषताएं जिसके जीवन में आ गईं, वह भक्त मुझे इष्ट होगा।

३२

अनपेक्ष बनो

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मुझे वह भक्त इष्ट है, जिसमें साधना का तेज होता है, जिसकी आराधना वर्चस्वी बन जाती है और जिसमें भावात्मक पवित्रता का विकास हो जाता है। गीता में कहा गया—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१२/१६ ।।

जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है, वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

जो व्यक्ति अनपेक्ष या अनाकांक्ष होता है, उसे चिन्ता नहीं रहती है। किसी कवि ने कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह।
जिसको कछु नहीं चाहिए, सो शाहन के शाह।।

आदमी साधना के द्वारा, अपने परिष्कृत चिन्तन के द्वारा आकांक्षा से मुक्त हो सकता है। वैराग्य शतक में भर्तृहरि ने कहा है—

वयमिह परितुष्टाः वल्कलैः त्वञ्च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषः विशेषः।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।।

हम इन वल्कलों से संतुष्ट हैं और तुम दुकूलों से। हमारे संतोष में और तुम्हारे संतोष में कोई अन्तर नहीं है। दरिद्र वही होता है, जिसकी तृष्णा विशाल है। मन में संतुष्ट होने पर कौन धनी है और कौन निर्धन है?

कुंभनदास हिन्दी के प्रख्यात कवि थे। एक दिन राजा मानसिंह उनके दर्शनार्थ वेश बदलकर उनके घर पहुंच गए। उन्होंने देखा कि कुंभनदास मस्तक पर तिलक लगाने के लिए अपनी बेटी से शीशा मांग रहे थे।

बेटी — पिताजी! शीशा तो बिल्ली ने तोड़ दिया।

पिता — पुत्री! कोई बात नहीं, किसी पात्र में जल भरकर ले आओ।

राजा ने देखा, कवि की पुत्री टूटे हुए घड़े में पानी लेकर आई है। पानी में पड़ रहे प्रतिबिम्ब में चेहरा देखकर कवि ने मस्तक पर तिलक लगाया। यह दृश्य देखकर राजा दंग रह गया। राजा मानसिंह ने दूसरे ही दिन स्वर्ण-जड़ित शीशा कवि के चरणों में समर्पित करते हुए कहा — कोई सेवा हो तो बताने की कृपा करें।

कवि — सेवा यही है महाराज कि अब आप कृपा करके मेरे घर कभी न आएं। अन्यथा बेकार वस्तुओं से मेरा घर भर जाएगा।

राजा आश्चर्यचकित रह गया। वह सोच भी नहीं सकता था कि कुंभनदास की निर्धनता कोई मजबूरी नहीं है। संतोष और अपरिग्रह का रास्ता उन्होंने स्वयं चुना है।

जिसमें ज्यादा आकांक्षाएं हैं, कामनाएं हैं, उसमें तनाव भी ज्यादा हो सकता है। कामना भी एक प्रकार की अग्नि होती है, जिसमें आदमी का सुख, शांति जलने लग जाती है और कामना का चीर द्रोपदी के चीर से भी ज्यादा लम्बा हो जाता है। उसको समाप्त करना, उसके टुकड़े-टुकड़े करना सबके लिए आसान काम नहीं होता है, परन्तु साधक आदमी उस चीर को भी समाप्त कर सकता है। आकांक्षा एक ऐसा कांटा है जो भीतर में चुभन पैदा करने वाला होता है। साधक इसकी समीक्षा करे, प्रेक्षा करे और आकांक्षा का परित्याग करे।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः से मे प्रियः ।।१२/१६

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो अनपेक्ष है, पवित्र हृदय वाला है, निष्पाप है, चतुर है, कुशल है, उदासीन है, पक्षपात-रहित है, जो न्याय की बात का पक्ष लेता है, अन्याय की बात का कभी समर्थन नहीं करता, दुःखों से रहित है, सब प्रकार के आरम्भ का त्यागी है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

जहां अपने पक्ष की बात होती है और वह गलत होती है तो भी यदि आदमी उसका समर्थन कर देता है तो इसका मतलब है, वह उदासीन, तटस्थ या मध्यस्थ नहीं

है। वह व्यक्ति धन्य है, जिसके सामने अपने-पराये का प्रश्न गौण है और जो यथार्थ है, न्याय्य है, उसी का समर्थन करता है।

दिल्ली के न्यायप्रिय बादशाह गयासुद्दीन का बाण निशाना साधते समय संयोगवश एक अबोध बालक को लग गया और उसकी वहीं मृत्यु हो गई। उसकी दुःखी मां ने दिल्ली के न्यायमूर्ति काजी सिराजुद्दीन के समक्ष बादशाह की शिकायत की। काजी ने नोटिस देकर बादशाह को अदालत में उपस्थित होने का आदेश दिया।

बादशाह अदालत में उपस्थित हुए और अपराधी की भांति कटघरे में खड़े हो गए। लोगों को विश्वास नहीं हो रहा था।

काजी ने पूछा — आपके बाण से इस मां का लाल मारा गया, क्या यह सही है?

बादशाह ने सिर झुकाकर कहा — मैं अपराधी हूं। आप मुझे दण्ड दें।

प्रसन्नचित्त काजी ने कहा — आपने सबके सामने अपराध स्वीकार कर लिया। बस, यही आपका दण्ड है।

काजी ने बादशाह को सलाम किया। तब बादशाह ने लबादे में छिपाई हुई तलवार को दिखाते हुए कहा — यदि आप उचित न्याय नहीं करते तो मैं उसी क्षण इस तलवार से आपकी गर्दन उड़ा देता।

काजी ने अपने आसन पर पुनः बैठकर पीछे से बेंत निकालते हुए कहा — यदि आप अपना अपराध स्वीकार नहीं करते तो मैं इससे आपकी चमड़ी उधेड़ देता, क्योंकि आप शासक की हैसियत से सब कुछ हैं, परन्तु न्याय के सामने कुछ भी नहीं।

बादशाह ने काजी को गले लगाते हुए कहा — मैं बड़ा भाग्यवान् हूं कि मेरे राज्य में आप जैसे न्यायप्रिय, निःस्पृह और सदाचारी न्यायमूर्ति हैं।

जब आदमी के मन में दुःख होता है, तब आदमी चलित हो जाता है, व्यथित हो जाता है। जो व्यक्ति चंचलता रहित है, मानसिक एकाग्रता वाला है, दुःखमुक्त है और जो अनारम्भी है, हिंसा नहीं करता, सांसारिक कार्यों से मुक्त है, वह भक्त श्रीकृष्ण को इष्ट है।

हमें उत्तराध्ययन में भी साधना के अनेक सूत्र प्राप्त होते हैं और गीता का उपदेश भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। दोनों ग्रन्थों में निर्देशित सूत्रों को आत्मसात् करके व्यक्ति एक महान् साधक होने की भूमिका को प्राप्त कर सकता है।

३३

निष्कांक्ष बनो

श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसमें अनेक विशेषताएं होती हैं और जिसकी चेतना भावात्मक स्तर पर पवित्र हो जाती है, वह व्यक्ति मुझे प्रिय होता है। इसी प्रसंग में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।।१२/१७।।

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।

जब अनुकूल स्थिति आती है तो लोग खुशी से झूमने लग जाते हैं, हर्ष मनाते हैं। अनुकूलता में खुश होना कोई बड़ी बात नहीं है, प्रतिकूलता में खुश रहना बड़ी बात है। जीवन में जब ऐसी घड़ियां आती हैं, जो मन को व्यथित करने वाली होती हैं, उनमें जो खुश रहता है, वह एक प्रकार का साधक होता है। जीवन की कठिन घड़ियों में आदमी फूल बनकर मुस्कुराना सीख ले तो उसे दुःख नहीं सताएगा। जो आदमी समस्याओं की परवाह नहीं करता, उन्हें तवज्जो नहीं देता, फिर समस्याएं वहां आएंगी ही नहीं। समस्याएं आए और आदमी घबरा जाए, दुःखी हो जाए, यह जीवन की एक प्रकार की हार होती है। जो समस्याओं या कठिनाइयों से घबराता नहीं है, वह व्यक्ति विजयी बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो प्रतिकूल परिस्थिति में द्वेष नहीं करता, अनमना नहीं होता, दुःखी नहीं बनता, शोक नहीं करता, ऐसा भक्त मुझे इष्ट है। किसी का वियोग होने पर लोग शोक करते हैं, दुःखी होते हैं। जब कोई अपना प्रिय व्यक्ति चला जाता है तो मन में दुःख होना भी संभव है। मृत्यु के बाद जो बारह

दिन आदि किये जाते हैं, उनको आध्यात्मिक रूप दे दिया जाए तो शोक कुछ कम हो सकता है, जैसे–दिवंगत आत्मा के उपलक्ष में हम इतने दिनों तक धार्मिक अनुष्ठान करेंगे, अच्छे ग्रंथों का पाठ करेंगे, रोना-धोना, मौजमस्ती या आमोद-प्रमोद नहीं करेंगे, वैराग्यपूर्ण, अध्यात्मपूर्ण कार्यक्रम चलाएंगे। मृत्यु के बाद ऐसा उपक्रम अध्यात्म की प्रेरणा देने वाला और वियोग से होने वाले शोक को कम करने वाला बन सकता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी और परमपूज्य आचार्य महाप्रज्ञजी का महाप्रयाण हुआ, तब हमने एक सप्ताह तक आध्यात्मिक अनुष्ठान के रूप में कार्यक्रम चलाया। अपने किसी प्रिय व्यक्ति के दिवंगत हो जाने के बाद मन में कुछ व्यथा हो सकती है, किन्तु उस व्यथा को धीरे-धीरे दूर करना चाहिए और कोई आध्यात्मिक उपक्रम चलाना चाहिए ताकि अध्यात्म से ओतप्रोत होने का, अध्यात्म के संदेशों को सुनने का अवसर मिले और वैराग्यमय वातावरण बना रहे। आदमी मनोबल को बनाए रखे। संस्कृत साहित्य में कहा गया – **गतं न शोचामि** अर्थात् जो बीत गया उसका मैं शोक नहीं करता और **गते शोको न कर्तव्यः** अर्थात् जो चला गया उसका शोक नहीं करना चाहिए। फिर जो करणीय होता है, उसे करना चाहिए। जब साधु-साध्वियां दिवगंत हो जाते हैं तो हमारे यहां शोक-सभा नहीं होती है। हम स्मृति-सभा करते हैं। उसमें उनका गुणगान करते हैं और उनके प्रति मध्यस्थ भावना का प्रयोग करते हैं। साधु तो साधना का जीवन जीने वाला होता है, उसके चले जाने के बाद शोक नहीं करना चाहिए।

गीताकार ने कहा – आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। आकांक्षा आदमी से गलत काम करवा देती है, हालांकि गृहस्थ पूर्णतया निष्कांक्ष नहीं हो सकता, पर इच्छा परिमाण अर्थात् इच्छाओं की सीमा तो कर ही सकता है। वह संतोष का अभ्यास करे। आदमी को अशुभ कार्यों को छोड़ना चाहिए और शुभ कार्यों में भी फल की आकांक्षा, भौतिक आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। फलाकांक्षा होने पर साधना का तेज कुछ कम हो जाता है। साधना को तेजस्वी बनाए रखने के लिए अथवा सार्थक करने के लिए हमें निष्कांक्ष बनना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया –

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ।। ३२/१०० ।।

रागी आदमी के लिए इन्द्रिय और मन के विषय यानी बाह्य पदार्थ दुःख का निमित्त बन जाते हैं। जो वीतराग हैं, उनके लिए ये विषय दुःखदायी नहीं होते।

आकांक्षा, शोक, हर्ष, द्वेष आदि ये सब विकार हैं, जो आदमी को दुःखी बनाने वाले होते हैं। साधक को इन विकारों का परित्याग करना चाहिए। ये विकार जितने पतले होंगे, हमारी चेतना निर्मल बन जाएगी। इसलिए आदमी राग-द्वेष, शोक, फलाकांक्षा आदि से मुक्त होकर वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करे। यह सबके लिए कल्याणकारी होगा।

३४

समता-संपन्न बनो

समता धर्म है और विषमता अधर्म है। साधु के लिए भी समता धर्म है और गृहस्थ के लिए भी समता धर्म है। जैन परम्परा में श्रावक सामायिक करते हैं। उसकी साधना में भी समता ही आधार बनती है। जैनशासन के सिद्धान्तों के निरूपण का एक बड़ा सार है कि समता धर्म है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१२/१८।।

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में सम है और आसक्ति से रहित है, वह मुझे प्रिय है।

आदमी मित्र या शत्रु दोनों के प्रति सम रहे, चाहे कोई बुरा करने वाला है या भला करने वाला है। यदि भला करने वाले के प्रति सद्भावना रहती है तो बुरा करने वाले के प्रति भी सद्भावना रहे। उसका भी वापस बुरा करने की भावना न रहे। अगर किसी ने बुरा किया और वापस उसका बुरा करने की भावना आ गई तो समझना चाहिए कि समता में अभी कमी है। मित्र के प्रति जो सद्भावना है, वही सद्भावना शत्रु के प्रति रहनी चाहिए। जैन सिद्धान्त में बताया गया कि हमें जो सुख-दुःख मिलते हैं, उसमें हमारे अपने पूर्वकृत् पुण्य-पाप ही जिम्मेदार होते हैं। दूसरा आदमी तो निमित्त बन सकता है, पर मूल कारण वह नहीं है। प्रमाण-साहित्य में अथवा न्याय-साहित्य में उपादान और निमित्त—ये दो शब्द आते हैं। उपादान मुख्य कारण होता है। जब घड़ा बनता है, तब घड़े का मुख्य आधार या कारण मिट्टी होती है। मिट्टी है तो घड़ा बनेगा। मिट्टी के बिना घड़ा बन ही नहीं सकता। दूसरे जो कारण हैं, चाक या घड़ा बनाने वाला कुंभकार आदि, ये सब निर्वर्तक कारण या निमित्त कारण हैं। किसी

भी कार्य में उपादान कारण और निमित्त कारण की अलग-अलग मीमांसा की जा सकती है, जैसे—घड़े का मूल कारण मिट्टी है और अन्य कारण निमित्त के रूप में हैं या निर्वर्तक के रूप में हैं, वैसे ही हमें जो सुख-दुःख मिलता है, उसका मूल कारण हमारे पूर्वकृत पुण्य और पाप हैं। निमित्त दूसरे व्यक्ति भी बन सकते हैं। किसी व्यक्ति ने हमें मारने के लिए पत्थर फेंका। हमें चोट लग गई। इसका निमित्त कारण तो वह पत्थर फेंकने वाला आदमी है, पर हमारा कोई असातवेदनीय कर्म का बंध रहा होगा, तब हमें वह कष्ट प्राप्त हुआ। महात्मा बुद्ध के लिए कहा जाता है कि उनके पैर में एक कांटा चुभ गया। जिज्ञासा हुई, वह कांटा क्यों चुभा ? तब स्वयं बुद्ध ने कहा —

इत्येकनवते कल्पे शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः।।

अब से पूर्व इक्यानवें भव में मैंने एक पुरुष को शक्ति से हत किया था। उस कर्म विपाक के कारण आज मेरे पैर में कांटा चुभा है। कहने का तात्पर्य है कि कोई भी वेदना हमारे शरीर में होती है तो उसका संबंध हमारे कर्म के साथ होता है। कर्म की उदीरणा या उदय होता है, तब हमें कष्ट होता है।

गीताकार ने कहा — तुम्हें कोई कष्ट देने वाला शत्रु मिल जाए या भलाई करने वाला मित्र मिल जाए, दोनों के प्रति सम रहो। मित्रों से प्यार करना तो सामान्य बात है, पर शत्रुओं से भी प्रेम करना, उनके प्रति भी सद्भावना रखना, यह बड़प्पन की बात है। अगर शत्रुओं के प्रति सद्भावना है तो मानना चाहिए हमारे मन में, हमारे भावों में समता का विकास हुआ है।

आदमी को कभी सम्मान मिल सकता है, कभी अपमान भी मिल सकता है। अगर सम्मान की स्थिति में प्रसन्नता होती है तो अपमान में दुःखी बनने की संभावना बन सकती है। इसीलिए कहा गया कि सम्मान में ज्यादा खुशी मत करो और अपमान में दुःखी मत बनो, दोनों में समता रखो।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि भयंकर सर्दी हो अथवा भयंकर गर्मी, दोनों में जो सम रहने वाला है और जो आसक्ति से रहित है, वह भक्त मुझे इष्ट है। उपरोक्त ये विशेषताएं ऐसी हैं, जो किसी महापुरुष में ही मिल सकती हैं। हर किसी में ऐसी विशेषताओं का होना संभव नहीं होता। जो साधक हैं, जिन्होंने साधना के लिए जीवन समर्पण किया है, उनके लिए तो विशेष रूप से ध्यान देने की बात है कि उनमें समता का विकास हो

रहा है या नहीं। आदमी प्रयास करे तो समता का विकास हो सकता है और समता होती है तो आदमी सुखी रह सकता है। यदि विषमता होती है तो मन में बेचैनी, तनाव, दुःख भी पैदा हो सकता है। संत इसीलिए सुखी रहते हैं, क्योंकि वे समता की साधना करने वाले हैं। अगर संत भी समता की साधना न करें तो उनके भीतर भी दुःख उत्पन्न हो सकता है।

साधु सुखी इसलिए भी रहता है कि वह कल की चिन्ता नहीं करता, जबकि किसी-किसी गृहस्थ को तो सात पीढ़ी की चिन्ता सताने लगती है। एक सेठ आगे की बहुत चिन्ता करता था। सेठानी उसे यदा-कदा समझाती रहती कि ज्यादा तनाव मत रखो, ज्यादा चिन्ता मत करो, आराम से रहो, शांति से रहो, किन्तु सेठ तो सात पीढ़ियों की चिन्ता करता रहता। एक दिन सेठानी ने कहा — सेठ साहब! हमारे पड़ौस में एक बाबाजी रहते हैं। उन्हें आज हमारे घर का भोजन देकर आ जाओ। सेठ टिफिन लेकर संत के पास गया और कहा — महाराज! मेरी पत्नी ने यह भोजन आपके लिए भेजा है। आप इसे स्वीकार कर हमें कृतार्थ करें। संत ने कहा — सेठ साहब! आपने देरी कर दी। मुझे आज का भोजन तो पहले और किसी ने लाकर दे दिया है। अब मैं यह भोजन नहीं ले सकता। सेठ ने कहा — महाराज! कोई बात नहीं। आप यह भोजन कल काम में ले लेना। इसमें मेवा, मिष्ठान्न आदि हैं। महात्मा ने कहा — सेठ साहब! मैं कल की चिन्ता नहीं करता। आज का मुझे मिल गया, कल के लिए मैं संग्रह नहीं करता। आज तो आप अपना भोजन वापस ले जाओ। फिर कभी आओगे और अवसर होगा तो मैं ले लूंगा। सेठ वापस आ गया और सेठानी से कहा — महात्माजी ने आज तो किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा लाया गया भोजन ले लिया और कल के लिए कुछ लेते नहीं हैं। सेठानी ने कहा — सेठ साहब! संत तो कल की भी चिन्ता नहीं करते और आप सात पीढ़ियों की चिन्ता करते हैं। जो व्यक्ति वर्तमान में जीना जानता है और समता की साधना करता है, वह वीतरागता की ओर अग्रसर होता है। अपेक्षा है, व्यक्ति समता-संपन्न बनने का प्रयास करे।

३५

आलोक-संपन्न बनो

आत्मा और शरीर दोनों भिन्न हैं। शरीर घर के समान है और आत्मा उसमें रहने वाले मनुष्य के समान है। शरीर एक लिफाफे के समान है और आत्मा उसमें रखे गए पत्र के समान है। श्रीमद्भगवद्गीता में शरीर और आत्मा की बात को बड़े सुन्दर तरीके से बताया गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !।।१३/३३।।

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

सर्दी के मौसम में सूर्योदय होने के बाद जो धूप निकलती है, वह बहुत सुहावनी लगती है। लोग धूप में आकर बैठते हैं और सर्दी से कुछ राहत का अनुभव करते हैं। अगर सूर्य न निकले तो स्वास्थ्य के लिए भी कुछ प्रतिकूलता उत्पन्न हो सकती है। सूर्य से ताप मिलता है, प्रकाश भी मिलता है। प्रकाश और ताप दोनों साथ-साथ मिलते हैं। कमरे में खिड़कियां होती हैं, उनसे धूप भी आती है, हवा भी आती है और प्रकाश भी आता है। सूर्य का प्रकाश जहां है, वहां अंधकार नहीं रह सकता। एक सूर्य पूरे ब्राह्माण्ड को आलोकित कर देता है। आत्मा और शरीर के साथ भी कुछ ऐसा ही होता है। एक आत्मा पूरे शरीर में चैतन्य के प्रकाश को फैला देती है। शरीर के भीतर आत्मा है। हाथ में भी आत्मा है, सिर में भी आत्मा है और पैरों में भी आत्मा है। संपूर्ण शरीर के भीतर आत्मा नाम का तत्त्व विराजमान है। हमारे शरीर में जब कुछ चुभ जाता है तो हमें तकलीफ होती है, क्योंकि वहां आत्मा के प्रदेश हैं, चैतन्य है, इसलिए

चुभने की अनुभूति होती है। जैसे एक सूर्य की अनेक किरणें होती हैं, वैसे ही एक आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। वे प्रदेश फैल जाते हैं। आत्मा को जितना बड़ा शरीर मिलता है उतने में चैतन्य फैल जाता है। यौगलिक काल में प्रथम आरे में आदमी की लंबाई तीन कोस की होती थी तो आत्मा उतने भाग को आलोकित कर देती। वर्तमान काल में मनुष्य की अवगाहना कम है तो चेतना उतने भाग को प्रकाशित करती है। छठे आरे में अवगाहना और कम हो जाएगी तो चेतना उतने भाग को प्रकाशित करेगी। जितना क्षेत्र मिलता है, उतने क्षेत्र को आत्मा प्रकाशित कर देती है। हम शरीर की जड़ता को, आत्मा के स्थायित्व को और चैतन्य को समझें। शरीर तो छूट जाता है, परन्तु आत्मा हमेशा बनी रहती है। शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु आत्मा का विनाश नहीं होता। धर्म का मुख्य आधार है — आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व। आत्मा आगे भी रहेगी, तब धर्म का महत्त्व है। अगर आत्मा आगे नहीं हो तो धर्म की उपयोगिता भी कम हो जाएगी। हम साधु बने हैं, क्योंकि आत्मा का शाश्वत अस्तित्व है। आत्मा का कल्याण करना है, इसलिए हमारा साधु बनना सार्थकतापूर्ण है। अगर मुझे कोई यह कहता कि आगे परलोक नहीं है और यह बात मेरी समझ में आ जाती तो संभवतः मैं साधु नहीं बनता। फिर क्यों इतना कष्ट सहता ? एक जीवन तो मैं कैसे भी पार कर देता। आत्मा है, परलोक है, पुनर्जन्म है, पुण्य-पाप का फल है, मोक्ष है, इन बातों पर मेरी आस्था हुई, तब मैंने साधु बनने का विचार किया।

जैनविद्या में समुद्घात का एक प्रकरण आता है। समुद्घात के समय आत्मा शरीर से बाहर निकलती है। समुद्घात के सात प्रकार हैं —

१. वेदना समुद्घात २. कषाय समुद्घात ३. मारणान्तिक समुद्घात ४. वैक्रिय समुद्घात ५. आहारक समुद्घात ६. तैजस् समुद्घात ४. केवली समुद्घात।

केवली समुद्घात की आठ समय की प्रक्रिया है। किसी केवली के समुद्घात होता है तो आत्मा के प्रदेश इस पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं और वापस संगृहीत भी हो जाते हैं। वैसे तो आत्मा शरीर को आलोकित करती है, किन्तु केवली समुद्घात में तो एक आत्मा पूरे लोकाकाश को अपने प्रदेशों से आलोकित कर देती है, उनका स्पर्श कर लेती है। केवली तो महासूर्य होते हैं। उनके पास केवलज्ञान का सूर्य उदित

हो चुका होता है। भक्तामर स्तोत्र में आचार्य मानतुंग ने भगवान् ऋषभदेव को अतिशायी प्रकाश वाला सूर्य बताते हुए कहा है —

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति।
नाम्भोधरोदर-निरुद्ध-महाप्रभावः,
सूर्यातिशायि-महिमासि मुनीन्द्र! लोके।।१७।।

हे प्रभो! आप तो सूर्य से भी ज्यादा अतिशय महिमा वाले हैं, क्योंकि सूर्य तो अस्त भी होता है, पर आपके पास तो केवलज्ञान रूपी सूर्य है, वह हमेशा उदित रहता है। सूर्य पर तो राहु का प्रभाव भी पड़ जाता है। वह राहु के द्वारा ग्रसित भी हो जाता है, किन्तु आपका केवलज्ञान रूपी सूर्य किसी राहु से प्रभावित नहीं होता। सूर्य सबको एक साथ प्रकाशित नहीं करता, किन्तु आपका सूर्य तो एक साथ सबको आलोकित कर देने वाला होता है। सूर्य के आगे बादल भी आ जाते हैं, वह बादलों से आच्छादित हो जाता है, परन्तु आपके केवलज्ञान रूपी सूर्य को कोई बादल आच्छादित नहीं कर सकता, इसलिए हे प्रभो! आप सूर्य से भी अतिशय महिमा वाले दिव्य पुरुष हैं।

जैन आगम साहित्य में भी कहा गया कि आत्मा अपने क्षेत्र को, अपने भाग को आलोकित कर देती है, यह आत्मा और शरीर का सिद्धान्त है। अन्यत्व भावना का यह सिद्धान्त है कि आत्मा अलग है और शरीर अलग है। शरीर में आत्मा है, पर शरीर आत्मा नहीं है। शरीर का अस्तित्व अलग है, आत्मा का अस्तित्व अलग है। दोनों का अलग-अलग अस्तित्व होने पर भी आत्मा में वह शक्ति है, जिसके द्वारा शरीर को चेतनामय बना दिया जाता है। शरीर एक प्रकार से आत्मा के प्रदेशों से आलोकित हो उठता है। इस संदर्भ में श्रीमद्भगवद्गीता और जैन वाङ्मय में बड़ी मिलती-जुलती बात है कि यह आत्मा उसी प्रकार अपने क्षेत्र को आलोक-संपन्न कर देती है, जिस प्रकार एक सूर्य पूरे ब्रह्माण्ड को आलोकित कर देता है।

३६

विवेक-संपन्न बनो

धार्मिक साहित्य में भेद-विज्ञान के बारे में बताया जाता है। जैन वाङ्मय के भगवती सूत्र में भी 'विण्णाणे' शब्द का प्रयोग मिलता है। वहां बताया गया है – **सवणे नाणे विण्णाणे** अर्थात् सुनो, जानो, विशेष रूप से जानो, विवेक पैदा करो। शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान को जानो। इस भेद-विज्ञान के लिए योग साहित्य में एक दूसरा शब्द आता है – विवेकख्याति। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान चिन्तामणि कोश में लिखा है – **विवेकः पृथगात्मता** अर्थात् अलग-अलग रूप में जान लेना। हंस के लिए एक शब्द का प्रयोग आता है–क्षीर-नीर- विवेकी। जैसे हंस क्षीर-नीर का विवेक करता है, वैसे साधक शरीर और आत्मा का विवेक करे यानी उसके पार्थक्य का ज्ञान करे। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया –

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।१३/३४।।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्य सहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष ज्ञान नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्मा लोग परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा को या आत्मा के स्वरूप को वे प्राप्त कर सकते हैं, जो ज्ञान रूपी नेत्र से क्षेत्र यानी शरीर और क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा को जान लेते हैं। शरीर और आत्मा के संदर्भ में एक आध्यात्मिकता का दर्शन है और दूसरा भौतिकता का दर्शन है। आध्यात्मिकता का दर्शन है **आत्मान्यः पुद्गलाश्चान्यः** अर्थात् आत्मा अलग है और पुद्गल या शरीर अलग है। भौतिकता का दर्शन है कि जो शरीर है, वही आत्मा है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा नाम की चीज नहीं है। दार्शनिक

साहित्य में या आगम साहित्य में एक शब्द आता है – **तज्जीव-तच्छरीरवाद** यानी जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है, अलग कुछ भी नहीं है। दोनों वाद एक दूसरे के विरोधी हैं। जब आत्मा नाम की अलग चीज है ही नहीं तो फिर धर्म और साधना करने की अपेक्षा ही क्या है? चार्वाकदर्शन ने कहा – **एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः** अर्थात् यह दुनिया उतनी ही है, यह लोक उतना ही है जितना दृष्टिगोचर हो रहा है। परलोक नाम की कोई चीज नहीं है। स्वर्ग-नरक नाम के कोई क्षेत्र नहीं हैं, इसलिए जब तक जीओ, खूब खाओ-पिओ, मौज करो। यह भौतिकता का दर्शन है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया –

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो? ।।५/६ ।।

नास्तिकवादी आदमी यह सोच लेता है कि ये कामभोग तो अभी सामने हैं, हाथ में आए हुए हैं, परलोक है या नहीं, कौन जाने?

इहलोक सामने है, इसलिए वर्तमान में जो भौतिक सुख प्राप्त हो रहे हैं, उनका भोग करना चाहिए, ऐसे भौतिकवादी अथवा नास्तिकवादी आदमी से कोई यह कह दे कि आगे भी कुछ है तो वह कहता है – सारी दुनिया का जो होगा, वह मेरा हो जाएगा। मैं अलग से अपनी चिन्ता क्यों करूं? परन्तु जब मौत सामने आती है, तब आदमी सोचता है कि मैंने नरक के बारे में सुना है, अधोगति के बारे में सुना है, किन्तु मैंने जीवन में धर्म तो किया ही नहीं, अध्यात्म की आसेवना तो की ही नहीं, अब मेरी क्या गति होगी? संत भीखणजी के मन में भी एक ऐसा ही भाव जागा था, जब वे राजनगर में गए और श्रावकों को अपनी चतुराई से वंदना करने के लिए नत कर दिया, किन्तु जब रात में बुखार का प्रकोप हुआ, तब उनको सोचने के लिए मानो मजबूर होना पड़ा कि मैंने झूठी बात को सच्चा ठहराने का प्रयास किया है। अब वापस मुझे संशोधन करना है। संत भीखणजी को सोचने की एक दिशा मिल गई। जीवन में जो कठिनाइयां आती हैं, संघर्ष आते हैं, वे कई बार हमारे जीवन को आलोकित करने वाले होते हैं, पथ को प्रशस्त करने वाले होते हैं, इसलिए यह भी कामना की गई कि जीवन में दुःख आना चाहिए। दुःख आने से भगवान् की याद आती है। दुःख आने पर आदमी धर्म के रास्ते पर अग्रसर हो सकता है। हालांकि हम नहीं चाहते कि विपत्तियां आए, पर

विपत्तियां कई बार हमारा भला भी कर देती हैं। आदमी मात्र वर्तमान को ही न देखे, भविष्य को भी देखे अर्थात् पुनर्जन्म की बात को भी स्मृति में रखे।

भौतिक विचारधारा का आधार है नास्तिकदर्शन और अध्यात्मिक विचारधारा का आधार है आस्तिकदर्शन। भेद-विज्ञान की जो अवधारणा है वह आस्तिकदर्शन की अवधारणा है। स्थूल नेत्र तो बाह्य चीजों को देखता है और ज्ञानचक्षु शरीर और आत्मा के भेद को जानता है। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का प्रयोग कराया जाता है। उसमें शरीर को शिथिल करने के बाद आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान का निर्देश दिया जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी विचार करने पर मुझे लगता है कि कायोत्सर्ग एक अच्छा प्रयोग है। आदमी शरीर और आत्मा का विवेक करे यानी भेद-विज्ञान को पुष्ट करे। विवेक-संपन्न व्यक्ति साधना की गहराई तक पहुंच सकता है।

शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान के बाद जो कर्मों की प्रकृतियां हैं, कर्म पुद्गल हैं, आदमी उनसे मुक्त होने का उपाय जान लेता है और उसे आत्मसात् कर लेता है तो कल्याण का पथ प्रशस्त हो जाता है। गीता की भाषा में जो पाप कर्म और पुण्य कर्म पुद्गल हैं, उनसे मुक्त होने का उपाय जो व्यक्ति जान लेता है और उत्तराध्ययन की भाषा में संवर और निर्जरा को जो जान लेता है अर्थात् कर्मों के आने के पथ को रोक देना और जो पूर्वार्जित कर्म हैं, उनको तोड़ने के लिए जो निर्जरा का अभ्यास करता है, वह मोक्ष को प्राप्त हो सकता है।

३७

बंधन-मुक्त बनो

भारतीय साहित्य में गुणत्रय का विस्तृत वर्णन मिलता है। वे तीन गुण हैं — सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ये तीन गुण प्रकृति से समुद्भूत होने वाले हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के चौदहवें अध्याय में इन तीन गुणों पर विस्तृत चर्चा की गई है। वहां कहा गया है —

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।१४/५।।

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण — ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।

प्रश्न होता है कि आत्मा शरीर के बंधन में क्यों आती है, उसका कारण क्या है? जैन वाङ्मय के दसवेआलियं सूत्र में स्पष्ट कहा गया कि कषाय की प्रबलता के कारण आत्मा एक जन्म के बाद दूसरी देह को धारण करती है और उसका पुर्नजन्म होता है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ उद्दीप्त होते हैं, तब आत्मा का बंधन होता है और वह देह में निबद्ध होती रहती है। गीता में कहा गया कि आत्मा अव्यय है, अविनाशधर्मा है और शरीर विनाशधर्मा है। इस अविनाशी आत्मा को विनाशी देह में बांधने का काम ये तीन गुण करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के चौतीसवें अध्ययन में लेश्याओं का बड़ा सुंदर वर्णन प्राप्त होता है। मुझे जैन सिद्धान्त सम्मत लेश्या की अवधारणा और श्रीमद्भगवद्गीता सम्मत गुणत्रय की अवधारणा में काफी समानता परिलक्षित हो रही है। लेश्या के छह प्रकार हैं — कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तैजस् लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। लेश्याएं चेतना को बांधने वाली हैं। लेश्याओं में भी तारतम्य होता है और इन तीन गुणों में भी तारतम्य का दर्शन होता

है, जैसे—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या को अधर्म लेश्या, अशुभ लेश्या या राजस्थानी भाषा में माठी लेश्या कहा जाता है। तैजस लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या को धर्म लेश्या, शुभ लेश्या और भली लेश्या कहा जाता है। लेश्या में जैसे अशुभता भी है, शुभता भी है। इसी प्रकार इन तीनों गुणों में भी अशुभता और शुभता है। तमोगुण अशुभ गुण है। रजोगुण भी अशुभता की ओर ले जाने वाला है, रागात्मकता की ओर ले जाने वाला है। सत्त्वगुण शुभ गुण के रूप में प्रतीत होता है। जैसे शुक्ल लेश्या अच्छी होती है, वैसे सत्त्वगुण भी अच्छा होता है। ये तीनों गुण आत्मा को बांधने वाले हैं।

इस संदर्भ में मैं एक दूसरी अवधारणा आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं, वह है जैनधर्म सम्मत कर्मवाद का सिद्धान्त। मैं कर्मवाद की ओर ध्यान केन्द्रित करता हूं तो मुझे लगता है कर्मवाद की तुलना भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुण से की जा सकती है। दोनों प्रकार के कर्म होते हैं, अशुभ भी होते हैं और शुभ भी होते हैं। शुभ कर्मों से आदमी को सुख मिलता है और अशुभ कर्मों से आदमी को दुःख मिलता है, कष्ट मिलता है। आठ कर्म माने गए हैं — ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अंतराय कर्म। इन आठ कर्मों के दो वर्गीकरण — घाती कर्म और अघाती कर्म के रूप में प्राप्त होते हैं। घाती कर्म वे होते हैं, जो आत्मगुणों का नाश करने वाले होते हैं। अघाती कर्म वे होते हैं, जो आत्मा के मूल गुणों का नाश नहीं करते, पर वे सुख-दुःख देने वाले होते हैं। इस प्रकार हम गीता के तीनों गुणों की तुलना जैनधर्म के आठ कर्मों की अवधारणा के साथ कर सकते हैं। कर्मों का काम भी आत्मा को बांधना है। कर्मों के कारण आत्मा शरीर को प्राप्त करती है और वे तीन गुण भी आत्मा को शरीर में बांधे रखते हैं। आदमी परिष्कार की दिशा में आगे बढ़े। वह तमोगुण का परिष्कार करे, रजोगुण का परिष्कार करे और सात्विकता में रहे। वह लक्ष्य तो यह बनाए कि गुणातीत हो जाए। जैनदर्शन के अनुसार आदमी अशुभ योग को छोड़े और शुभ योग में रहे। अंत में शुभ योग को भी छोड़कर अयोग अवस्था को प्राप्त करे। मुक्ति में जाने के लिए अयोग अवस्था एक प्रकार का प्लेटफॉर्म है, जहां से आत्मा उड़ान भरती है, आगे गति करती है और मोक्ष में जाकर विराजमान हो जाती है।

शुभ और अशुभ—ये दोनों योग हैं। योग या तो अशुभ होता है या शुभ होता है। हमारे यहां तीसरा कोई योग सम्मत नहीं है। दोनों योग के बाद अयोग अवस्था सम्मत

है। आदमी कम से कम अशुभ योग को छोड़े और शुभ योग में रहे तो उसे कल्याण का अवसर प्राप्त हो सकता है, आत्मा उत्थान की स्थिति में अवस्थित हो सकती है। अशुभ और शुभ दोनों में से एक का चुनाव करना हो तो आदमी को शुभ का चुनाव करना चाहिए। राग के भी दो प्रकार हैं – अप्रशस्त राग, प्रशस्त राग। पहले व्यक्ति अप्रशस्त राग को छोड़े, फिर प्रशस्त राग को भी छोड़े, तभी पूर्ण वीतरागता की स्थिति प्राप्त हो सकती है। आदमी के विचार भी इन गुणों के आधार पर या लेश्या के आधार पर भिन्न भिन्न होते हैं। एक आदमी कुछ सोचता है, दूसरा आदमी कुछ सोचता है, तीसरा आदमी कुछ और सोचता है। जिस प्रकार की लेश्या है, जिस प्रकार के भाव हैं, उसी प्रकार के विचार आदमी के बन जाते हैं।

राजा के तीन राजकुमार थे। राजा वृद्धावस्था में था। एक दिन मन में विचार आया कि जीवन का तो वैसे भी भरोसा नहीं होता है, वृद्धावस्था आने के बाद तो भरोसा और भी कम हो जाता है। अब मुझे पीछे का प्रबंधन कर देना चाहिए। मुझे अपने उत्तराधिकारी का निर्णय कर देना चाहिए। राजा कुलगुरु संन्यासी के पास पहुंचा और निवेदन किया – संन्यासीवर! आप मुझे बताएं कि मैं उत्तराधिकार किसको सौंपू?

संन्यासी ने कहा – राजन्! यह तो मैं नहीं बताऊंगा कि अमुक को सौंपो, अमुक को मत सौंपो। वैसे भी साधु-संन्यासी को तो सांसारिक बातों से अलग ही रहना चाहिए। चुनाव में कौन जीते, कौन हारे, इसमें साधु-संन्यासी को नहीं पड़ना चाहिए। हालांकि चुनाव में खड़े होने वाले प्रत्याशी साधु-संन्यासियों के पास आते हैं, आशीर्वाद लेते हैं, पर साधु संस्था को इसमें नहीं उलझना चाहिए कि अमुक व्यक्ति को वोट दो, अमुक व्यक्ति को जिताओ। भले कोई भी व्यक्ति जीतकर आये, साधु को यह कहना चाहिए कि तुम अच्छा काम करना, भला काम करना, अहिंसा युक्त काम करना, नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखना आदि यह प्रेरणा या उपदेश साधु के द्वारा दिया जा सकता है।

राजा – महात्मन्! कुछ तो बताओ मुझे क्या करना चाहिए?

संत – राजन्! जो योग्य हो, उसको दायित्व सौंपना चाहिए। अवस्था में बड़ा या छोटा होना अलग बात है। जिसमें योग्यता, अर्हता, गुणात्मकता ज्यादा लगे, उस आदमी को दायित्व सौंपना चाहिए, अयोग्य को भार नहीं सौंपना चाहिए।

राजा – महाराज ! योग्यता या क्षमता का निर्णय कैसे किया जाये ?

संन्यासी – राजन् ! ये कुछ फूलों के बीज मैं तुमको दे रहा हूं, इनसे परीक्षा हो जायेगी। ये बीज तुम अपने पुत्रों को दे देना और उनसे वापस कभी मांगने की बात भी कह देना।

राजा ने गुर को समझ लिया। रात्रि में तीनों राजकुमारों को बुलाया और कहा – पुत्रो ! मैं तीर्थयात्रा पर जाना चाहता हूं। मुझे छह महीने यात्रा में लगेंगे। तुम तीनों को मैं जाने से पूर्व फूलों के कुछ बीज दे रहा हूं। आने के बाद इन बीजों को वापस मुझे सौंप देना। थोड़े-थोड़े बीज तीनों राजकुमारों के हाथों में थमा दिये और राजा तीर्थयात्रा के लिए रवाना हो गया। राजा छह महीने के बाद जब वापस आया, तब बड़े बेटे से पूछा – पुत्र ! उन बीजों का तुमने क्या किया ?

बड़ा पुत्र – पिताजी ! आपके हाथ से दिए हुए उन बीजों को मैंने प्रसाद मानकर खा लिए।

राजा ने मंझले पुत्र से पूछा – पुत्र ! तुमने क्या किया ?

पुत्र – पिताजी ! आपके हाथ की चीज थी, इसलिए मैंने उनको डिबिया में रख दिया। वह तत्काल डिबिया लेकर आया और पिताजी को समर्पित कर दी। पिता ने देखा, सारे बीज सड़ गये थे।

राजा ने सबसे छोटे पुत्र से पूछा – पुत्र ! उन बीजों का तुमने क्या किया ?

पुत्र – पिताजी ! कल सुबह आप घूमने के लिए जाएंगे, तब बताऊंगा कि मैंने क्या किया उन बीजों का। दूसरे दिन राजकुमार पिताजी को अपने बगीचे में ले गया और कहा – पिताजी ! यह सारा बगीचा उन्हीं बीजों की देन है, जो बीज आपने दिये थे। राजा ने सोचा, यह छोटा पुत्र योग्य है, जिसने बीजों का बगीचा बना दिया। उसी राजकुमार को समय आने पर राजा ने उत्तराधिकार सौंप दिया।

ठीक कहा गया कि हमारे भीतर जो लेश्या है, गुण हैं, वे उसी प्रकार के हमारे विचार और आचार का निर्माण कर देते हैं। लेश्या भी आत्मा को बांधे रखती है और ये तीन गुण भी आत्मा को शरीर के बंधन से बांधे रखते हैं। इन गुणों से अतीत होने पर आत्मा बंधन से मुक्त हो सकती है।

३८

तमोगुण से सावधान रहो

सत्त्वगुण शुभकारक होता है। यह गुण जिस व्यक्ति में होता है, उसकी सुख और ज्ञान में आसक्ति होती है। रजोगुण रागात्मक होता है। तमोगुण एक अनिष्टकारी गुण है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत! ।।१४/८ ।।

हे अर्जुन! सब प्राणियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जानो। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।

तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। जैन वाङ्मय में दो प्रकार का अज्ञान बताया गया है। एक अज्ञान क्षायोपशमिक भाव से संबंधित है और दूसरा अज्ञान औदयिक भाव से संबंधित है। एक अज्ञान वह है, जिसमें अवबोध तो होता है, किन्तु उस ज्ञान का धारक आदमी मिथ्यादृष्टि संपन्न होता है, इसलिए उसे अज्ञान कहा गया। वहां अज्ञान का अर्थ किया गया – **कुत्सितं ज्ञानं अज्ञानम्** अर्थात् कुत्सित ज्ञान अज्ञान है। उस अज्ञान की यह दुर्बलता है अथवा यह कृष्णपक्ष है कि उसके साथ मिथ्यादृष्टि जुड़ी हुई है।

दूसरा अज्ञान वह है, जिसमें ज्ञान का अभाव है। यह अज्ञान एक साधु में भी मिल सकता है। जब तक केवलज्ञान न हो जाए, तब तक अज्ञान तो हर व्यक्ति में, हर प्राणी में विद्यमान रहता है। यह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से निष्पन्न होने वाला अज्ञान है। जहां मिथ्यात्व है, वहां दोनों प्रकार का अज्ञान होता है, औदयिक भाव वाला भी होता है और क्षायोपशमिक भाव के संदर्भ में होने वाला अज्ञान भी होता है।

गीताकार के अनुसार तमोगुण की उत्पत्ति अज्ञान से होती है और जैन वाङ्मय के संदर्भ में ऐसा कहा जा सकता है कि जो मिथ्यादृष्टि प्राणी हैं, धर्म को नहीं समझने वाले प्राणी हैं, उन प्राणियों में तमोगुण का दर्शन किया जा सकता है। अज्ञान को एक अभिशाप माना गया है, क्योंकि अज्ञान से आवृत चेतना वाला व्यक्ति अपने हित और अहित का भी अवबोध नहीं कर सकता, इसलिए अज्ञान बड़ा कष्टकारी होता है। अज्ञान के वशीभूत होने पर आदमी जान ही नहीं पाता कि उसके लिए क्या करणीय है, क्या अकरणीय है? किस काम से आत्मा भारी होती है, किस काम से हल्की होती है? एक आचार्य के पास एक छोटा शिष्य था। वह स्वाध्याय में रुचि नहीं लेता। गुरु ने अनेक बार कहा – वत्स! स्वाध्याय किया करो, ज्ञान किया करो, सीखा करो। ज्ञान काम आता है। वह साधु थोड़ा तेज था, तर्कशील था, बोला – गुरुदेव! आप ज्ञानी गुरु विराजमान हैं। मुझे ज्ञान ग्रहण करने की क्या जरूरत है? आप जो बताएंगे, वह मैं कर लूंगा। मुझे शास्त्र का अध्ययन करने की क्या जरूरत है? गुरु ने कहा – वत्स! मैं हूं यह अच्छी बात है, किन्तु अपना ज्ञान अपने काम आता है। स्वयं के पास ज्ञान नहीं है तो मौके पर आदमी धोखे में रह जाता है। दूसरी बात है, आज तो मैं हूं पर मैं सदा तो तुम्हारे पास रहूंगा नहीं। तुम स्वयं पढ़ो, स्वाध्याय करो, ज्ञान करो।

जो अज्ञान को दूर करने वाला होता है और ज्ञान देने वाला होता है, वह गुरु होता है। गुरु का एक आधारभूत सूत्र है कि जो कंचन-कामिनी का त्यागी होता है और जो पांच महाव्रतों को धारण करने वाला होता है, भले वह दस वर्ष का भी क्यों न हो, वह गुरु होता है, क्योंकि वह सर्व सावद्य योग का त्यागी है। गुरु का दूसरा आधारभूत सूत्र है कि जो अज्ञान का हरण करने वाला होता है, भले वह साधु नहीं बना, एक सदाचारी गृहस्थ है, किन्तु बड़ा ज्ञानी है, शास्त्रों का ज्ञाता है, अनुभवी है, प्रवचन करता है, धर्मोपासना करता है, पथदर्शन देता है और सामने वाले व्यक्ति के अज्ञान को दूर कर देता है तो वह भी गुरु के रूप में स्वीकार किया गया है। अज्ञान से उत्पन्न होने वाला तमोगुण आदमी की चेतना को मोहित करने वाला होता है। जैनदर्शन के मोहनीय कर्म और गीता के तमोगुण में काफी समानता परिलक्षित होती है। तमोगुण वाले व्यक्ति में प्रगाढ़ मोह का उदय होता है। उसकी चेतना मूढ़ बन जाती है, विकृत बन जाती है। जिसके प्रबल मोह का उदय होता है, वह मिथ्यात्वी होता है। उससे जो आदमी अंधा होता है, वह ठीक तरह से देख नहीं पाता। वह अदेव को देव मान लेता है, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मान लेता है। देव, गुरु, धर्म में सम्यग् आस्था

का न होना मिथ्यात्व होता है और उसे मैं तमोगुण समझता हूं। भगवद्गीता की भाषा में विपरीत श्रद्धा या ज्ञान का अभाव जब आदमी में होता है तो कषाय का भी प्राबल्य होता है और व्यक्ति की चेतना मूढ़ हो जाती है। आदमी किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। इस मिथ्यात्व के अंधकार को जो दूर करते हैं, वे बहुत बड़ा उपकार करते हैं।

प्रमाद, आलस्य और निद्रा – इन तीनों के माध्यम से तमोगुण आदमी को बंधन में डालता है। जैन सिद्धान्त दीपिका में प्रमाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है – **अनुत्साहः प्रमादः** अर्थात् अध्यात्म की साधना के प्रति जो अनुत्साह होता है, वह प्रमाद है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि में प्रमाद शब्द का अर्थ किया है – **प्रमादोनवधानता** अर्थात् अनवधानता प्रमाद है। साधना की विस्मृति होना प्रमाद है। अवधान या सावधान का मतलब है – एकाग्रता, जागरूकता। जागरूकता अप्रमाद है और अजागरूकता प्रमाद है। प्रमाद एक दलदल है। उसमें फंसने के बाद निकलना मुश्किल होता है, इसलिए हम तमोगुण से सावधान रहें। हम कहीं इस प्रमाद के कीचड़ में फंस न जाएं।

तमोगुण का दूसरा साधन है आलस्य। तमोगुण आदमी को आलसी बना देता है। फिर उसमें काम करने का उत्साह नहीं रहता। वह सोचता है कल कर लेंगे, परसों कर लेंगे, अभी क्या जल्दी है। आलसी आदमी का सूत्र होता है –

आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों।
इतनी क्या जल्दी है तेरे, जीना है अभी बरसों।।

आदमी इस आलस्य से बचने का प्रयास करे और अच्छा काम करना हो तो उसे जल्दी करने का प्रयास करे। भगवान् महावीर के पास कोई दीक्षा लेने की भावना से आता, तब भगवान् महावीर कहते – विलम्ब मत करो। आलस्य आदमी के विकास में बाधक बनता है। आलस्य एक महान शत्रु है, जो हमारे शरीर में रहता है और हमारा ही नुकसान करता है। मकान मालिक के पास कोई किरायेदार रहे और उस मकान मालिक का ही नुकसान करे तो कितनी कृतघ्नता की बात होती है। पुरुषार्थ एक ऐसा बन्धु है, जिसका आश्रय आदमी ले लेता है तो वह फिर कभी भी दुःखी नहीं बनता, सफलता की ओर आगे बढ़ता है। तमोगुण का काम है आदमी को आलस्य से आवृत कर देना ताकि वह विकास न कर सके, किन्तु आदमी आलस्य से दूर रहने का प्रयास करे।

तमोगुण का तीसरा साधन है निद्रा। हर आदमी नींद लेता है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो बिल्कुल नहीं सोता है। दिन-रात जागता रहे, कभी नींद न ले, ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है। चार-पांच दिन भी नींद नहीं ली जाती है तो शरीर काम करना बंद-सा कर देता है। शरीर में इतनी बेचैनी हो जाती है कि किसी भी कार्य में मन नहीं लगता। जिस प्रकार स्वास्थ्य के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही स्वास्थ्य के लिए नींद भी आवश्यक है। सामान्यतया जो नींद बहुत कम लेते हैं, उनके स्वास्थ्य में कभी-कभी कठिनाई पैदा हो सकती है, बी.पी. आदि की समस्या पैदा हो सकती है, इसलिए आदमी नींद का भी विवेक रखे, अतिनिद्रा भी न ले और अनिद्रा की स्थिति भी नहीं रहे। संतुलित निद्रा स्वास्थ्य के लिए और साधना के लिए लाभदायक होती है। आदमी बाहर की नींद तो अपेक्षानुसार ले, किन्तु भीतर से हर क्षण जागरूक रहे। आचारांग सूत्र में तो कहा भी गया है कि अज्ञानी सदा सोये रहते हैं और ज्ञानी सदा जागते रहते हैं। व्यक्ति क्षण भर भी प्रमाद न करे, आलस्य न करे। प्रमाद, आलस्य और नींद तमोगुण के साधन हैं। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होने वाला है और यह प्राणियों को मोहित करने वाला है, उनको बंधन में डालने वाला है, इसलिए ऐसे तमोगुण से सावधान रहना चाहिए।

३९

प्रमादी मत बनो

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के द्वारा क्या निष्पन्न होता है? सत्त्वगुण का क्या कार्य है? रजोगुण का क्या कार्य है? तमोगुण का क्या कार्य है? श्रीमद्भगवद्गीता में इन जिज्ञासाओं का समाधान देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत!।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।१४/९।।

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण ज्ञान को ढककर प्रमाद में लगाता है।

सत्त्वगुण जब उभरता है, प्रबल बनता है, तब वह आदमी को सुख में आसक्त बनाता है, सुख पाने में प्रवृत्त कर देता है। यह सामान्य बात है कि हर प्राणी के मन में सुख पाने की कामना रहती है। दसवेआलियं के चौथे अध्याय में कहा गया – **सव्वे पाणा परमाहम्मिया** अर्थात् सभी प्राणी परम धार्मिक हैं यानी परम सुख पाने के आकांक्षी बने रहते हैं। रजोगुण आदमी को कर्म में प्रवृत्त करता है, कर्म में आसक्त बनाता है। रागात्मकता को पुष्ट करने वाला रजोगुण होता है। तमोगुण का काम है ज्ञान को आवृत करना। अज्ञान को पुष्ट करने वाला तमोगुण आदमी को प्रमाद में संलग्न कर देता है। गीता के इन तीन गुणों की जैनदर्शन की लेश्याओं के साथ तुलना कर सकते हैं। कृष्ण लेश्या के साथ तमोगुण की तुलना की जा सकती है। कृष्ण लेश्या की स्थिति में आदमी के क्या परिणाम होते हैं? इसे बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो ।।३४/२१।।

जो मनुष्य पांचों आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में संलग्न है, क्षुद्र है, बिना विचारे कार्य करने वाला है।

निद्धंधसपरिणामो निस्संसो अजिइंदिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे ।।३४/२२ ।।

लौकिक और पारलौकिक दोषों की शंका से रहित मन वाला है, नृशंस है, अजितेन्द्रिय है, जो इन सभी से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

कृष्ण लेश्या के प्रभाव से आदमी की विवेक चेतना लुप्त हो जाती है। उस समय मोह का इतना प्राबल्य होता है कि व्यक्ति पांच आश्रवों में रच-पच जाता है, आसक्त हो जाता है और वैसा कर्म करने लग जाता है। विवेक-शून्य आदमी पशु के समान हो जाता है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने ग्रन्थ कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका में लिखा है —

कृत्याकृत्यमजानानाः पशूयन्ते नरा अपि।
कृत्याकृत्यविवेको हि, नृपश्वोरन्तरं विदुः ।।२ ।।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं जानने वाले मनुष्य पशु के समान होते हैं, क्योंकि करणीय और अकरणीय का विवेक ही मनुष्य और पशु के बीच की भेद-रेखा होती है।

अनेक व्यक्ति बिना सोचे-विचारे काम कर लेते हैं। अनेक व्यक्ति इतने मंदबुद्धि वाले होते हैं कि वे समझ ही नहीं पाते कि उनके लिए क्या करना अच्छा है और क्या नहीं करना अच्छा है। ऐसी स्थिति में आदमी की विवेक-चेतना को जगा देना उस पर एक बड़ा उपकार होता है।

कई व्यक्ति मौन अधिक करते हैं और कई व्यक्ति बोलते ज्यादा हैं। मौन करना अच्छा है या बोलना अच्छा है ? मेरा मंतव्य है कि मौन करना भी बड़ी बात नहीं है और बोलना भी बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है बोलने और न बोलने में विवेक रखना। खाना कोई बड़ी बात नहीं है और न खाना भी कोई बड़ी बात नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात है खाने और न खाने में विवेक रखना। जागना भी कोई बड़ी बात नहीं होती है और सोना भी बड़ी बात नहीं होती है। बड़ी बात होती है सोने और जागने में

विवेक रखना। इस प्रकार हर क्रिया के साथ विवेक जुड़ जाए तो कार्य सुसम्पादित हो सकता है।

एक साधु को किसी दूसरे साधु की सेवा के लिए भेजा जाता है। वहां जाकर यदि वह तपस्या करने लग जाए तो फिर काम कौन करेगा? अतः जहां सेवा का अवसर हो, वहां तपस्या गौण है, सेवा प्रमुख है। जहां दिक्कत न हो, वहां तपस्या भी की जा सकती है। एक अवस्था के बाद जब शरीर काम करना बन्द कर देता है, ज्ञान-ध्यान आदि करने में भी अक्षम हो जाता है, फिर तपस्या करना बहुत अच्छा है। व्यावहारिक संदर्भों में भी देखा जा सकता है कि एक व्यक्ति में ठीक ज्ञान या विवेक नहीं है तो कार्य भी दुष्परिणाम अथवा निष्परिणाम लाने वाला हो सकता है।

सास बाहर जा रही थी। उसने बहुरानी से कहा — मैं किसी आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रही हूं। रात को देर से आऊंगी। तुम एक बात का ध्यान रखना कि घर में अंधेरा न रहे। बहुरानी में समझ शक्ति कुछ कम थी। उसने सोचा कि आज पहली बार सास ने मुझे कोई काम सौंपा है, इसलिए अच्छे ढंग से सम्पन्न करना है। जैसे ही सास बाहर गई, बहुरानी ने घर के सारे दरवाजे, खिड़कियां बन्द कर लिए, किन्तु ज्यों ही सन्ध्या हुई, रात आने लगी, अंधेरा छा गया। बहु को गुस्सा आया और लाठी से दरवाजे-खिड़कियों को पीटने लगी। अंधेरा भीतर आ गया। आया तो आया कैसे? आज ही तो सास ने अपनी अनुपस्थिति में मुझे काम सौंपा था और उसमें ही मैं विफल हो गई। अंधेरे को पीटते-पीटते उसके हाथ लहूलुहान हो गए। रात को सास आई, पूछा — बहुरानी घर में अंधेरा कैसे है? बहू ने कहा — मैंने तो आपके जाते ही सब दरवाजे बन्द कर दिए थे, किन्तु पता नहीं यह किस रास्ते से आ गया? सास ने सोचा कि बहू विनीत तो है, किन्तु विवेक सम्पन्न नहीं है। सास ने दीपक जलाया और अंधेरा गायब हो गया। अंधेरे को भगाने के लिए दरवाजे को पीटने की जरूरत नहीं, एक दीपक जलाने की अपेक्षा है। बहू में विवेक नहीं था, इसलिए उसने अकरणीय कर दिया। स्वयं को कष्टापन्न भी बना लिया और सास का आदेश भी क्रियान्वित नहीं हो सका।

कई बार आदमी श्रम बहुत करता है, फिर भी उसका परिणाम अच्छा नहीं आता। आदमी काम भले कुछ कम करे, किन्तु विवेकपूर्ण करे तो उसका परिणाम अच्छा आ सकता है, निष्पत्ति सामने आ सकती है। आदमी यह चिंतन करे कि मैं

अपनी शक्ति का नियोजन कहां करूं ? अपना समय और श्रम कहां लगाऊं ? अल्प समय और अल्प श्रम में अधिक लाभ मिल सके, ऐसा काम करना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि आदमी के जीवन में विवेक का जागरण हुआ या नहीं ? वह समझपूर्वक कार्य करता है या नासमझी से करता है। यदि हर कार्य विवेकपूर्वक किया जाए तो जीवन में सफलता मिल सकती है।

सत्त्वगुण शुक्ल लेश्या के समान प्रतीत होता है। शुक्ल का मतलब है सफेद, उज्ज्वल, निर्मल। सत्त्वगुण या शुक्ल लेश्या में आदमी में निर्मलता पुष्ट होती है, प्रकाश का अनुभव होता है और आत्मा काफी पवित्र बन जाती है। बीच की जो स्थितियां हैं, उनमें रजोगुण का दर्शन हो सकता है। वहां रागात्मकता का प्रभाव होता है, दिखावे की भावना, नाम की भावना, आसक्ति की भावना प्रबल और प्रधान बन जाती है।

कृष्ण लेश्या का प्राबल्य होता है, तब आदमी का व्यवहार और विचार विकृत बन जाता है। वह हिंसा, झूठ, चोरी आदि में लगा रहता है। तमोगुण के प्रभाव से आदमी अकरणीय कार्य करने लग जाता है। तमोगुण के द्वारा जो प्रमाद उत्पन्न होता है, आलस्य उत्पन्न होता है, वह आदमी को पतन की ओर ले जाने वाला, विकास की गति को अवरुद्ध करने वाला बन जाता है। आदमी के सामने पथ होने पर भी वह उस पर चलने का उत्साह नहीं रखता। उसे पथ दिखाया जाता है, फिर भी वह इतना मोहासक्त होता है, विषयासक्त होता है कि अच्छे पथ पर जाने का उसका मन ही नहीं करता। वह जहां है, वहीं रहने का प्रयास करता है। दो मित्र थे। दोनों सम्पन्न थे। ग्रह का कोई ऐसा योग आया, दोनों एकदम विपन्न हो गए। गरीबी उनके घर की अतिथि बन गयी। इतनी गरीबी आ गयी कि सुबह कुछ खाने को मिल जाता तो शाम को भोजन की चिंता सताने लगती और शाम का भोजन हो जाता तो सुबह की चिन्ता सताने लगती। दोनों मित्रों ने सोचा कि यह हमारा कैसा जीवन है ? घर में जाते हैं तो बच्चे कहते हैं, पिताजी ! भूख लगी है, रोटी चाहिए। हम कैसे पिता हैं, जो अपने मासूम बच्चों को दो समय की रोटी भी नहीं खिला सकते। ऐसा जीवन जीने से तो अच्छा है हमें आत्महत्या करके मर जाना चाहिए। आदमी में जब हताशा, निराशा या कुंठा आ जाती है तो मरने की भावना भी मन में आ जाती है। अनेक लोग आत्महत्या कर भी लेते हैं। दोनों मित्र मरने के लिए एक कुएं के पास गये और सोचा, इसमें

पड़कर मर जाएंगे। मरने के लिए कदम उठाने से पहले दोनों ने आपस में बात की कि एक बार फिर सोच लें, अगर कोई उपाय हो गरीबी से मुक्ति पाने के लिए। अन्यथा मरना तो है ही। सोचते-सोचते एक विकल्प दिमाग में आया कि हमारे गांव से चार कोस दूर एक आशापूर्ण देवी का मन्दिर है, वहां जाने से यदि हमारा कोई समाधान हो जाये तो हमें मरना नहीं पड़ेगा। दोनों तत्काल देवी के मंदिर में गये। दोनों ने तेले का अनुष्ठान किया और साथ में मंत्र का जप किया। देवी प्रसन्न हो गयी।

देवी ने प्रकट होकर पूछा – बोलो, तुम्हें क्या चाहिए? दोनों ने कहा – देवी! आपकी कृपा चाहिए। हम बड़े गरीब हैं। हमें इस गरीबी से मुक्त कर दो।

मेरा ऐसा मंतव्य है कि अगर हमारे पुण्य का योग हो तो देवी-देवता भी सहायता कर देते हैं। अगर प्रबल पाप का योग हो तो देवी-देवता भी सहायता नहीं कर पाते। देवी ने अपने ज्ञान से देखा तो ज्ञात हुआ कि एक व्यक्ति के तो पुण्य का उदय होने वाला है, किन्तु दूसरे व्यक्ति के अभी भी लंबे काल तक पाप का उदय रहेगा। खैर, देवी ने कहा – मैं तुम दोनों को रत्नद्वीप में छोड़ देती हूं। वहां रत्न बहुत हैं। तुम वहां से रत्नों को उठा लेना। तीन घंटे होते ही मैं तुम्हें वापिस ले आऊंगी। दोनों मित्रों को देवी ने रत्नद्वीप में पहुंचा दिया। जिस मित्र के आगे भी पाप का योग था, उसने कहा – भैया! मुझे तो नींद आ रही है। मैं तो यहां विश्राम करूंगा। दूसरा मित्र बोला – भैया! नींद तो तुम बाद में ले लेना। अभी तो हमें तीन घंटे का कीमती समय मिला है। तुम घूमो, खोजो, जहां कहीं रत्न मिले, इकट्ठा करो। उसने कहा – नहीं, मुझे तो अभी नींद आ रही है। तमोगुण ने उसके ज्ञान को आवृत करके उसे प्रमाद में प्रवृत्त कर दिया। ठंडी हवा आ रही थी। फलों और पुष्पों की भीनी-भीनी सुगंध आ रही थी। वह आराम से सो गया। दूसरे ने बहुमूल्य रत्नों की एक पोटली बांध ली। तीन घंटे पूरे होते ही देवी आई और कहा – दोनों विमान में बैठो। जो व्यक्ति सोया हुआ था, वह बोला – हे जगदम्बे! मुझे एक घंटा और दो।

देवी – तीन घंटे तुमने क्या किया?

मित्र – जगदम्बे! मैं तो सो गया।

देवी – मेरा नियम है, मैं तीन घंटों से ज्यादा किसी को नहीं देती।

दोनों को विमान में बिठाया और मंदिर के परिसर में लाकर छोड़ दिया। जिसने परिश्रम किया, रत्न एकत्रित किये, वह धनवान् बन गया और जिसने श्रम नहीं किया,

वह गरीब का गरीब ही रह गया। जिस व्यक्ति पर तमोगुण का प्रभाव होता है, वह आलसी होता है, समय का लाभ नहीं उठा सकता, अवसर को खो देता है। जिस प्रकार एक मित्र ने तीन घंटे के सुनहरे समय का उपयोग नहीं किया, वह रत्न एकत्रित कर सकता था, पर तमोगुण प्रभावी होने के कारण वह आलस्य में आ गया। उसमें विवेक हीनता-सी आ गयी। वह प्रमाद में चला गया और मौके का फायदा नहीं उठा सका। जिस मित्र में सत्त्वगुण का प्रभाव था, वह आलस्यमुक्त था, जागरूक था। उसने समय का लाभ उठाया और रत्न एकत्रित कर लिए। व्यक्ति इन तीनों गुणों को समझे और यह विचार करे कि मेरे भीतर तमोगुण का प्रभाव ज्यादा है या रजोगुण का प्रभाव ज्यादा है या सत्त्वगुण का प्रभाव ज्यादा है? आदमी को तमोगुण से बचना चाहिए, रजोगुण से भी बचना चाहिए और सत्त्वगुण में अधिक रहने का प्रयास करना चाहिए। लेश्याओं के बारे में विचार करें तो हमें कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या में नहीं रहना चाहिए, शुक्ल लेश्या में रहना चाहिए। शुक्ल लेश्या सबसे अच्छी होती है, परंतु आत्मा की परम अवस्था को पाने के लिए शुक्ल लेश्या को भी कभी छोड़ना होगा और सत्त्वगुण को भी कभी छोड़ना होगा। आदमी स्वयं के भीतर झांके, स्वयं का अवलोकन करे और सत्त्वगुण से भी मुक्त होकर परम अवस्था को पाने का प्रयास करे।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

रोज की एक सलाह

लघु आकार में प्रस्तुत यह पुस्तक 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करती है। आचार्यश्री महाश्रमण द्वारा सूक्तियों में दी गई 'रोज की एक सलाह' हर व्यक्ति के लिए प्रतिदिन की पर्याप्त खुराक है। सदा साथ रखी जा सकने वाली यह कृति न केवल सफलता की प्राप्ति में सहायक है, अपितु व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

सुखी बनो

आचार्यश्री महाश्रमण ने प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन की तुलनात्मक विवेचना करते हुए साधक का सुन्दर पथदर्शन किया है। जहां यह कृति दो महनीय ग्रन्थों को युगीन रूप में प्रस्तुति देती है, वहीं अध्यात्मरसिकों के लिए पोषक का कार्य भी करती है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

शिलान्यास धर्म का

धर्म का आदि बिन्दु है - सम्यक्त्व। आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत कृति सम्यक्त्व, उसके लक्षण, दूषण, भूषण तथा देव, गुरु, धर्म आदि विषयों पर आधारित प्रवचनों और प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। जैन अनुयायियों की आस्था के दृढ़ीकरण में यह कृति सहायक की भूमिका अदा करती है।

● प्राप्ति स्थान ●

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन भारतीय साहित्य भण्डार के अमूल्य रत्न हैं। सनातन परम्परा में जहां गीता श्रद्धास्पद मानी जाती है, वहीं उत्तराध्ययन एक प्रतिष्ठित जैनागम है। परम्परा भेद होने पर भी दोनों ग्रन्थों में अनेकानेक समानताएं हैं। दोनों ग्रन्थों में वर्णित साधना के गहरे सूत्र अध्यात्म की ऊंचाइयों पर ले जाने वाले हैं।

आचार्य श्री महाश्रमण एक ऐसे सन्त हैं, जिनके लिए पन्थ और ग्रन्थ का भेद बाधक नहीं बनता। आपके प्रवचन सर्वजनहिताय होते हैं। हर जाति, वर्ग, क्षेत्र और सम्प्रदाय की जनता आपके प्रवचनों से लाभान्वित होती रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन पर आधारित अपनी प्रलम्ब प्रवचन शृंखला में आपने दोनों ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को सरलभाषा में प्रस्तुत किया है। एक जैनाचार्य द्वारा उत्तराध्ययन की भांति गीता की भी अधिकार के साथ सटीक व्याख्या करना आश्चर्यजनक है। प्रस्तुत है उस महनीय प्रवचनमाला का द्वितीय ग्रन्थ.....

ISBN 81-7195-220-8

₹ 70.00